हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सत्रह भागों में)

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१४ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, ३००० प्रतियाँ, संवत् २०१४ वि०
मूल्य १८)

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक

डा० राजबली पांडेय

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१४ वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण, ३००० प्रतियाँ, संवत् २०१४ वि०
मूल्य १८)

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

प्रथम भाग

हिंदी साहित्य की पीठिका

संपादक

डा० राजबली पांडेय

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

सं० २०१४ वि०

प्रथम भाग के लेखक

प्रथम खंड : डा० राजबली पांडेय
द्वितीय खंड : डा० भोलाशंकर व्यास
तृतीय खंड : पं० बलदेव उपाध्याय
चतुर्थ खंड : डा० भगवतशरण उपाध्याय
पंचम खंड : डा० भगवतशरण उपाध्याय

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना

गत पचास वर्षों के भीतर हिंदी साहित्य के इतिहास की क्रमशः प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है और उसके ऊपर कई ग्रंथ भी लिखे गए हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपना हिंदी साहित्य का इतिहास सं० १९८६ वि० में लिखा था। उसके पश्चात् हिंदी के विषयगत, खंड और संपूर्ण इतिहास निकलते ही गए और आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के हिंदी साहित्य (सन् १९५२ ई०) तक इतिहासों की संख्या पर्याप्त बड़ी हो गई। सं० २००४ वि० में भारतीय स्वातंत्र्य तथा सं० २००६ वि० में भारतीय संविधान में हिंदी के राज्यभाषा होने की घोषणा होने के बाद हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में जिज्ञासा बहुत जाग्रत हो उठी। देश में उसका विस्तारक्षेत्र इतना बड़ा, उसकी पृष्ठभूमि इतनी लंबी और विविधता इतनी अधिक है कि समय समय पर यदि उनका आकलन, संपादन तथा मूल्यांकन न हो तो उसके समवेत और संयत विकास की दिशा निर्धारित करना कठिन हो जाय। अतः इस बात का अनुभव हो रहा था कि हिंदी साहित्य का एक विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया जाय। नागरीप्रचारिणी सभा ने आश्विन्, सं० २०१० वि० में हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना निर्धारित और स्वीकृत की। इस योजना के अंतर्गत हिंदी साहित्य का व्यापक तथा सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय तथा इतिहास में उसकी पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन तथा विवेचन इसमें समाविष्ट है। इस योजना का संघटन, सामान्य सिद्धांत तथा कार्यपद्धति संक्षेप में निम्नांकित है :

प्राक्कथन—देशरत्न राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद

भाग	विषय और काल	संपादक
प्रथम भाग	हिंदी साहित्य की पीठिका	डा० राजबली पांडेय
द्वितीय भाग	हिंदी भाषा का विकास	डा० धीरेंद्र वर्मा
तृतीय भाग	हिंदी साहित्य का उदय और विकास १४०० वि० तक	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
चतुर्थ भाग	भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० परशुराम चतुर्वेदी
पंचम भाग	भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० चंद्रबली

षष्ठ भाग	शृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१६०० वि०	डा० नगेंद्र
सप्तम भाग	शृंगारकाल (रीतिमुक्त) १७००-१६०० वि०	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
अष्टम भाग	हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल) १६००-५० वि०	श्री विनयमोहन शर्मा
नवम भाग	हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदीकाल) १६५०-७५ वि०	डा० रामकुमार वर्मा
दशम भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (काव्य) १६७५-९५ वि०	पं० नंददुलारे वाजपेयी
एकादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (नाटक) १६७५-६५ वि०	श्री जगदीशचंद्र माथुर
द्वादश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (उपन्यास, कथा, आख्यायिका) १६७५-६५ वि०	डा० श्रीकृष्णलाल
त्रयोदश भाग	हिंदी साहित्य का उत्कर्षकाल (समालोचना, निबंध) १६७५-६५ वि०	श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
चतुर्दश भाग	हिंदी साहित्य का अद्यतनकाल १६६५-२०१० वि०	डा० रामअवध द्विवेदी
पंचदश भाग	हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान	डा० विश्वनाथप्रसाद
षोडश भाग	हिंदी का लोकसाहित्य	म० पं० राहुल सांकृत्यायन
सप्तदश भाग	हिंदी का उन्नयन	डा० संपूर्णानंद

१. हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।

२. व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा।

३. साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, अंतर्भाव, तिरोभाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जायगा।

४. संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके। ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अतिरंजन। साथ ही साथ साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से

५—भाषा और शैली सुबोध तथा सुरुचिपूर्ण होगी।

६—प्रत्येक खंड के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची आवश्यक होगी।

यह योजना विशाल है। इसके संपन्न होने के लिये बहुसंख्यक विद्वानों के सहयोग, द्रव्य तथा समय की अपेक्षा है। बहुत ही संतोष और प्रसन्नता का विषय है कि देश के सभी सुधियों तथा हिंदीप्रेमियों ने इस योजना का स्वागत किया है। संपादकों के अतिरिक्त विद्वानों की एक बहुत बड़ी संख्या ने सहर्ष अपना सहयोग प्रदान किया है। हिंदी साहित्य के अन्य अनुभवी मर्मज्ञों से भी समय समय पर बहुमूल्य परामर्श प्राप्त होते रहते हैं। भारत की केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से उदार आर्थिक सहायताएँ प्राप्त हुई हैं और होती जा रही हैं। नागरीप्रचारिणी सभा इन सभी विद्वानों, सरकारों तथा अन्य शुभचिंतकों के प्रति कृतज्ञ है। आशा की जाती है कि हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास निकट भविष्य में पूर्ण रूप से प्रकाशित होगा।

इस योजना के लिये विशेष गौरव की बात है कि इसको स्वतंत्र भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेंद्रप्रसाद का आशीर्वाद प्राप्त है। हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का प्राक्कथन लिखकर उन्होंने इस योजना को महान् बल और प्रेरणा दी है। सभा इसके लिये उनकी अत्यंत अनुगृहीत है।

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना का परिचय पहले दिया जा चुका है। जहाँ तक इसके प्रथम भाग का संबंध है यह संपूर्ण इतिहास की पीठिका है। स्वयं पीठिका होने के कारण इसकी लंबी भूमिका आवश्यक नहीं। यहाँ पर केवल कुछ सामान्य बातों का उल्लेख किया जा रहा है।

किसी भी साहित्य के उद्भव और विकास के लिये दो तत्व आवश्यक हैं, एक तो उसका उद्गम स्थल, वातावरण तथा स्वगत अथवा सजातीय परिवर्तन की प्रवृत्ति एवं क्षमता और दूसरा बाहरी संपर्क तथा प्रभाव। पहला तत्व उद्भव के पूर्व से वर्तमान रहता है और वहीं से जीवन का रस उसे निरंतर मिलता है। यदि किसी देश के साहित्य की उपमा वृक्ष से दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि वह देशविशेष की मिट्टी से उत्पन्न होता है और उसको प्रारंभिक पोषण वहीं से मिलता है। वृक्ष बड़ा होता है तो वह ऊपर के वातावरण से भी अपना पोषण प्राप्त करता है और क्रमशः उस देश के वायुमंडल में देशदेशांतर से आकर बहनेवाली हवाओं से भी अपने लिये उपयुक्त भोजन लेता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मूल की जड़ता या किसी रोग विशेष के कारण उस वृक्ष की जड़ें अपने उद्गम स्थल से रस लेने में असमर्थ हो जाती हैं। उस समय वृक्ष वातावरण और वायुमंडल में बहनेवाले भोजन पर जीता है। परंतु महान् वृक्ष बहुत दिनों तक इस प्रकार जी नहीं सकता। वह भीतर से निर्जीव होने लगता है। बाहरी प्रभाव और प्रवृत्तियाँ उस वृक्ष की शाखाओं और डालों पर पहले कलम की तरह बैठती हैं, फिर उनके अंकुर अपनी जड़ें वृक्ष के भीतर धुसाने लगते हैं। मूल वृक्ष और परभृत् प्रभावों में जीवन के लिये संघर्ष होता है। भविष्य में बच जानेवाला वृक्ष सभी बाह्य प्रभावों को आत्मसात् कर अपना अस्तित्व बनाए रखता है। खो जानेवाला वृक्ष मरकर बाहरी प्रभावों के लिये केवल खाद बन जाता है। अंतिम परिणाम दोनों के बलाबल और जिस वन अथवा उपवन में वह वृक्ष होता है उसके माली की जागरूकता और रुचि पर अवलंबित रहता है।

उपर्युक्त उपमा हिंदी साहित्य के उद्गम और विकास पर पूरी लागू होती है। हिंदी साहित्य ने अब तक अपने उद्गम स्थल से जीवन का रस लिया है और साथ ही साथ पार्श्ववर्ती और बाह्य प्रभावों का भी स्वागत कर उन्हें आत्मसात् किया है, जहाँ आवश्यकता हुई है वहाँ उनका विरोध और तिरस्कार भी। प्रस्तुत भाग में हिंदी साहित्य के उद्गम स्थल का विशेष रूप से परिचय तथा आकलन है, बाह्य

प्रभाव का सामान्य रूप से। वाह्य प्रभावों का विशेष रूप से वर्णन आगे आनेवाले भागों में यथास्थान मिलेगा।

इस भाग के प्रथम खंड में हिंदी साहित्य के उदय के पूर्व के हिंदी क्षेत्र की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन है। किसी भूगोलशास्त्री अथवा शुद्ध वैज्ञानिक के लिये भौगोलिक स्थिति प्रकृति मात्र है, किंतु साहित्यिक के लिये वह उसके अनुभव का क्षेत्र है, जिसके ऊपर उसकी प्रतिक्रिया होती है और जिसको वह अर्थ और मूल्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिये, किसी आदिम मृगया पर जीनेवाले व्यक्ति के लिये जंगल केवल भोजन के निमित्त जानवरों को प्राप्त करने का स्थान ही नहीं, अपितु वनदेवता और वनदेवियों का क्रीडास्थल भी है जहाँ उनकी आशाएँ, भय, आशंकाएँ, कल्पनाएँ आदि उद्‌बुद्ध और अभिव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार बालक के लिये तो उसका भौगोलिक वातावरण बिलकुल प्राकृतिक नहीं है। यह तो उसके लिये संपत्ति, विहारभूमि और सखावृंद सभी एक साथ है। सभ्य और प्रौढ़ मानव भी भौगोलिक स्थिति को केवल भौतिक नहीं समझता। यद्यपि उसका प्रकृति के प्रति आदिम रहस्यभाव कम हो जाता है, फिर भी वह प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने में लगा रहता है और उसके इस कार्य में विचार, चिंतन, भावना, तथा कल्पना के विचरण के लिये प्रचुर क्षेत्र मिलता है। प्रकृति उसके लिये सामाजिक जीवन का प्रतीक बन जाती है। मानव जीवन की स्मृतियाँ, परंपराएँ और मूल्य उसके साथ जुट जाते हैं।

परंतु मनुष्य कभी भी अपने प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण तक सीमित नहीं रहता। वह उसमें सामाजिक संस्थाओं का विकास करता है और सामाजिक परंपराओं का स्थापन। सामाजिक जीवन और शिक्षण के द्वारा ये परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे चलती और मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। साहित्य इसी सामाजिक परंपरा की उपज है। वह पिछली परंपरा से जन्म ग्रहण करता, उससे पोषण लेता और आगे बढ़ता है। मनुष्य इस परंपरा पर लंबी सीमा तक अवलंबित रहता है, जो विकास के लिये आवश्यक है। प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में भौगोलिक आधार, द्वितीय में मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ, तृतीय में राजनीतिक स्थिति, चतुर्थ में राजनीतिक विचार और संस्थाओं, पंचम तथा षष्ठ में सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन है। प्रारंभिक हिंदी साहित्य पर इनका गंभीर प्रभाव है और अब तक ये हिंदी साहित्य को अनुप्राणित और प्रभावित करती जा रही हैं।

पीठिका का द्वितीय खंड साहित्यिक आधार और परंपरा है। इससे हिंदी साहित्य का सीधा संबंध है। इसके अंतर्गत प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य के मुख्य अंगों तथा तत्वों का परिचय है, जिन्होंने हिंदी साहित्य को सहज भाव से

रूप, विषय, रस, अभिप्राय, रीति आदि प्रदान किया है। हिंदी के ऊपर प्रभाव की दृष्टि से राजनीतिक तथा सामाजिक परंपरा की अपेक्षा संस्कृत की साहित्यिक परंपरा बहुत बड़ी है—वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक—क्योंकि राजनीतिक तथा सामाजिक मूल्यों से साहित्यिक मूल्य अधिक दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। इसमें मुख्य रूप से वैदिक वाङ्मय का साहित्यिक मूल्यांकन तथा संस्कृत साहित्य की कलात्मक मान्यताओं का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में प्राकृत और मिश्र संस्कृत का परिचय है। जिस प्रकार संस्कृत की देनें हिंदी के लिये महत्वपूर्ण हैं उसी प्रकार प्राकृत और मिश्र संस्कृत की भी। प्राकृत वास्तव में मूलतः जनभाषा होने के कारण हिंदी के अधिक निकट है। उसमें प्रबंध काव्य, मुक्तक काव्य, कथासाहित्य, नाटक, रस, रीति तथा छंदशास्त्र की जो परंपराएँ बनीं उनसे हिंदी परिपुष्ट हुई। तृतीय अध्याय में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का संक्षिप्त वर्णन है। अपभ्रंश का भाषा और साहित्य दोनो की दृष्टि से निकटतम संबंध है। इससे विषय, अभिप्राय, काव्यपरिवेष, अभिव्यंजना और छंदःसंपत्ति सभी हिंदी को दाय रूप में मिली हैं। अपभ्रंश की इसी परंपरा में प्रारंभिक हिंदी का जन्म और विकास हुआ।

इस भाग के तृतीय खंड का विषय धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा है। यह कहना अनावश्यक है कि किसी भी देश के साहित्य और उसकी धार्मिक एवं दार्शनिक परंपरा मे घनिष्ठ संबंध होता है। भारत में तो यह संबंध और भी घनिष्ठ है। अपभ्रंश में धार्मिक विषयों का प्राधान्य है। वैसे तो हिंदी का प्रारंभ राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्य से होता है, परंतु बहुत ही शीघ्र भारतीय धर्म और दर्शन साहित्य से अपना निकट संबंध स्थापित कर लेते हैं। हिंदी साहित्य की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी परंपराएँ तथा स्मार्त धर्म पर आधारित काव्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। साहित्य के समान ही, संभवतः उससे बढ़कर, धर्म और दर्शन की परंपराएँ और मूल्य दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। धर्म और दर्शन की अटूट परंपरा वेद और उपनिषद् तक पहुँचती है। इस खंड के प्रथम अध्याय में वैदिक धर्म और नीति का विवेचन तथा औपनिषदिक तत्वज्ञान का परिचय है। द्वितीय अध्याय मे जैन धर्म के तत्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा तथा नीति का संक्षिप्त विवरण है। इसी प्रकार तृतीय अध्याय में बौद्धधर्म और दर्शन का निदर्शन, इसकी वज्रयानी साधना और अवधूती मार्ग का स्वतंत्र रूप से वर्णन है, क्योंकि यह साहित्य हिंदी के सिद्ध साहित्य के निकट पहुँच जाता है। चतुर्थ अध्याय में भारत के सामान्य पाँच दर्शनो का निरूपण है। पंचम अध्याय में पौराणिक तथा षष्ठ में तांत्रिक धर्म के शिष्ट अंगों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में वेदांत का अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय दिया गया है, क्योंकि भारतीय दर्शन के चरम उत्कर्ष का यह प्रतिनिधित्व करता है और सबसे अधिक हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। सभी वैष्णव एवं शैव आचार्यों ने वेदांत के किसी न किसी संप्रदाय—

प्रभाव का सामान्य रूप से। बाह्य प्रभावों का विशेष रूप से वर्णन आगे आनेवाले भागों में यथास्थान मिलेगा।

इस भाग के प्रथम खंड में हिंदी साहित्य के उदय के पूर्व के हिंदी क्षेत्र की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन है। किसी भूगोलशास्त्री अथवा शुद्ध वैज्ञानिक के लिये भौगोलिक स्थिति प्रकृति मात्र है, किंतु साहित्यिक के लिये वह उसके अनुभव का क्षेत्र है, जिसके ऊपर उसकी प्रतिक्रिया होती है और जिसको वह अर्थ और मूल्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिये, किसी आदिम मृगया पर जीनेवाले व्यक्ति के लिये जंगल केवल भोजन के निमित्त जानवरों को प्राप्त करने का स्थान ही नहीं, अपितु वनदेवता और वनदेवियों का क्रीडास्थल भी है जहाँ उनकी आशाएँ, भय, आशंकाएँ, कल्पनाएँ आदि उद्‌बुद्ध और अभिव्यक्त होती हैं। इसी प्रकार बालक के लिये तो उसका भौगोलिक वातावरण बिलकुल प्राकृतिक नहीं है। यह तो उसके लिये संपत्ति, विहारभूमि और सखावृंद सभी एक साथ है। सभ्य और प्रौढ़ मानव भी भौगोलिक स्थिति को केवल भौतिक नहीं समझता। यद्यपि उसका प्रकृति के प्रति आदिम रहस्यभाव कम हो जाता है, फिर भी वह प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने में लगा रहता है और उसके इस कार्य में विचार, चिंतन, भावना, तथा कल्पना के विचरण के लिये प्रचुर क्षेत्र मिलता है। प्रकृति उसके लिये सामाजिक जीवन का प्रतीक बन जाती है। मानव जीवन की स्मृतियाँ, परंपराएँ और मूल्य उसके साथ जुट जाते हैं।

परंतु मनुष्य कभी भी अपने प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण तक सीमित नहीं रहता। वह उसमें सामाजिक संस्थाओं का विकास करता है और सामाजिक परंपराओं का स्थापन। सामाजिक जीवन और शिक्षण के द्वारा ये परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आगे चलती और मानव जीवन को प्रभावित करती हैं। साहित्य इसी सामाजिक परंपरा की उपज है। वह पिछली परंपरा से जन्म ग्रहण करता, उससे पोषण लेता और आगे बढ़ता है। मनुष्य इस परंपरा पर लंबी सीमा तक अवलंबित रहता है, जो विकास के लिये आवश्यक है। प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में भौगोलिक आधार, द्वितीय में मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ, तृतीय में राजनीतिक स्थिति, चतुर्थ में राजनीतिक विचार और संस्थाओं, पंचम तथा षष्ठ में सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन है। प्रारंभिक हिंदी साहित्य पर इनका गंभीर प्रभाव है और अब तक ये हिंदी साहित्य को अनुप्राणित और प्रभावित करती जा रही हैं।

पीठिका का द्वितीय खंड साहित्यिक आधार और परंपरा है। इससे हिंदी साहित्य का सीधा संबंध है। इसके अंतर्गत प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य के मुख्य अंगों तथा तत्वों का परिचय है, जिन्होंने हिंदी साहित्य को सहज भाव से

रूप, विषय, रस, अभिप्राय, रीति आदि प्रदान किया है। हिंदी के ऊपर प्रभाव की दृष्टि से राजनीतिक तथा सामाजिक परंपरा की अपेक्षा संस्कृत की साहित्यिक परंपरा बहुत बड़ी है—वैदिक काल से लेकर मध्ययुग तक—क्योंकि राजनीतिक तथा सामाजिक मूल्यों से साहित्यिक मूल्य अधिक दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। इसमें मुख्य रूप से वैदिक वाङ्मय का साहित्यिक मूल्यांकन तथा संस्कृत साहित्य की कलात्मक मान्यताओं का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में प्राकृत और मिश्र संस्कृत का परिचय है। जिस प्रकार संस्कृत की देनें हिंदी के लिये महत्वपूर्ण हैं उसी प्रकार प्राकृत और मिश्र संस्कृत की भी। प्राकृत वास्तव में मूलतः जनभाषा होने के कारण हिंदी के अधिक निकट है। उसमें प्रबंध काव्य, मुक्तक काव्य, कथासाहित्य, नाटक, रस, रीति तथा छंदशास्त्र की जो परंपराएँ बनीं उनसे हिंदी परिपुष्ट हुई। तृतीय अध्याय में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का संक्षिप्त वर्णन है। अपभ्रंश का भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से निकटतम संबंध है। इससे विषय, अभिप्राय, काव्यपरिवेश, अभिव्यंजना और छंदःसंपत्ति सभी हिंदी को दाय रूप में मिलीं हैं। अपभ्रंश की इसी परंपरा में प्रारंभिक हिंदी का जन्म और विकास हुआ।

इस भाग के तृतीय खंड का विषय धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा है। यह कहना अनावश्यक है कि किसी भी देश के साहित्य और उसकी धार्मिक एवं दार्शनिक परंपरा में घनिष्ठ संबंध होता है। भारत में तो यह संबंध और भी घनिष्ठ है। अपभ्रंश में धार्मिक विषयों का प्राधान्य है। वैसे तो हिंदी का प्रारंभ राजनीतिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्य से होता है, परंतु बहुत ही शीघ्र भारतीय धर्म और दर्शन साहित्य से अपना निकट संबंध स्थापित कर लेते हैं। हिंदी साहित्य की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी परंपराएँ तथा स्मार्त धर्म पर आधारित काव्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। साहित्य के समान ही, संभवतः उससे बढ़कर, धर्म और दर्शन की परंपराएँ और मूल्य दूरव्यापी और स्थायी होते हैं। धर्म और दर्शन की अटूट परंपरा वेद और उपनिषद् तक पहुँचती है। इस खंड के प्रथम अध्याय में वैदिक धर्म और नीति का विवेचन तथा औपनिषदिक तत्वज्ञान का परिचय है। द्वितीय अध्याय में जैन धर्म के तत्वज्ञान, ज्ञानमीमांसा तथा नीति का संक्षिप्त विवरण है। इसी प्रकार तृतीय अध्याय में बौद्धधर्म और दर्शन का निदर्शन, इसकी वज्रयानी साधना और अनुभूति मार्ग का स्वतंत्र रूप से वर्णन है, क्योंकि यह साहित्य हिंदी के सिद्ध साहित्य के निकट पहुँच जाता है। चतुर्थ अध्याय में भारत के सामान्य पाँच दर्शनों का निरूपण है। पंचम अध्याय में पौराणिक तथा पठ में तांत्रिक धर्म के विशिष्ट अंगों का वर्णन है। सप्तम अध्याय में वेदांत का अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय दिया गया है, क्योंकि भारतीय दर्शन के चरम उत्कर्ष का यह प्रतिनिधित्व करता है और इसने अधिक हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। सभी वैष्णव एवं शैव आचार्यों ने वेदांत के किसी न किसी संप्रदाय—

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत—का अवलंबन कर अपने साहित्य का प्रचार किया।

पीठिका के चतुर्थ खंड का संबंध कला से है। कला मूर्त रूपों में प्रायः उन्हीं विषयों और भावों का निरूपण और अभिव्यक्ति करती है जिनका निरूपण और अभिव्यक्ति साहित्य शब्दचित्रों के सहारे करता है, अतः दोनों का बहुत निकट का संबंध है। इस खंड के प्रथम अध्याय में स्थापत्य की विविध शैलियों—नागर, द्राविड, वेसर तथा मिश्र—का वर्णन है और साथ ही उसके प्रकारों का भी उल्लेख है, जिनमें मंदिर, स्तूप, स्थापत्य, चैत्य, विहार, स्तंभ, आवास, ग्राम, नगर, दुर्ग, राजप्रासाद, सार्वजनिक आवास, वापी, तडाग, दीर्घिका, कूप, आदि हैं। धार्मिक आधार पर भी स्थापत्य के विविध रूपों का वर्गीकरण हुआ है। द्वितीय अध्याय में मूर्तिकला के उदय और व्यापकता तथा उसकी शैलियों और प्रकारों का परिचय दिया गया है। प्राङ्मौर्य युग से लेकर आधुनिक युग तक इस कला की अजस्र धारा भारत में बहती रही है। मौर्य, गांधार, माथुर एवं गुप्तकालीन मूर्तिकला अपने कलात्मक सौंदर्य और विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध है। परंतु मध्ययुग में इसका असीमित विस्तार हुआ। बहुसंख्यक धार्मिक संप्रदायों ने अपने अपने देवमंडल को देव, देवियों, पार्षदों, आयुधों और अलंकरणों से भर दिया। इससे कला का प्राण दब सा रहा था, किंतु तक्षक की छेनी को अपना कौशल दिखाने का अपार अवसर मिला। मूर्तिकला की यह प्रवृत्ति मध्यकालीन साहित्य के समानांतर जा रही थी। तृतीय अध्याय में चित्रकला का परिचय है। इसकी परंपरा प्राचीन होने पर भी इसके नमूने बहुत परवर्ती हैं और सभी काल के नहीं मिलते। आधार की दृष्टि से यह मध्यम व्यायोग है और शीघ्र नश्वर। स्थापत्य तथा मूर्तिकला तो प्रस्तर का सहारा लेकर चिरस्थायी होती हैं और साहित्य तथा संगीत अमर शब्दों और ध्वनियों के माध्यम से युग युग तक प्रवाहित होते रहते हैं। परंतु चित्रकला के आधार, पट अथवा पत्र (कपड़ा अथवा कागज), अल्पप्राण होने के कारण बहुत काल तक नहीं बने रह सकते। चित्रकला भी जहाँ प्रस्तर और धातु का सहारा लेती है वहाँ दीर्घायु होती है, जैसे अजंता, एलोरा और बाघ की गुहाओं के भित्तिचित्र। भारतीय चित्रों में जीवन के बहुल और विविध अंगों का चित्रण हुआ है। कहीं कहीं तो साहित्यिक परंपरा के प्रदर्शन के लिये चित्रों का उपयोग किया गया है। किंतु चित्रों की परंपरा स्थापित हो जाने पर साहित्य स्वयं उनसे समृद्ध हुआ है। चतुर्थ अध्याय में संगीत के क्रमिक विकास का संक्षिप्त वर्णन है। साहित्य और संगीत का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है। संगीत आदिम काल से मनुष्य की भावाभिव्यक्ति का सहज माध्यम रहा है। साहित्य के गेय अंश का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ता आया है। हिंदी का संत साहित्य तो संगीत का आकर है। कला के विवरण में साहित्य की

दृष्टि से रंगमंच का विशिष्ट स्थान है। रंगमंच का बहुत संक्षिप्त वर्णन पंचम अध्याय में है। संस्कृत साहित्य के दृश्य काव्य प्रायः अभिनेय थे जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर होता था। मुसलिम आक्रमणों से अभिनय कला तथा रंगमंच को बहुत धक्का लगा। परंतु रंगमंच मरा नहीं। संस्कृत नाटकों के भाषांतर तथा मौलिक नाटकों में से बहुत से अभिनीत होते रहे। इस अध्याय में रूपक और अभिनय के संबंध, रूपक के भेद, हिंदी नाटक और रंगमंच, अभिनय शास्त्र और साहित्य एवं कला आदि प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है।

इस भाग का अंतिम पंचम खंड बाह्य संपर्क तथा प्रभाव है। भारत प्राचीन काल से ही सभ्य और संस्कृत तथा एशिया के दक्षिण के महान् देशों में मध्यवर्ती होने के कारण संसार की अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों के संपर्क, संघर्ष और समन्वय में प्रमुख भाग लेता आया है। पौराणिक परंपरा के अनुसार भारत से कई मानव धाराएँ मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया तक पहुँचीं जिससे विविध भाषाओं और साहित्यों का संगम अत्यंत प्राचीन काल में प्रारंभ हो गया। इसके पश्चात् इन देशों से मानव जातियाँ लगातार भारत में आती रहीं और अपने साथ अपनी भाषाएँ और साहित्यिक परंपराएँ भी लाती रहीं। न्यूनाधिक मात्रा में बलाबल के अनुसार आदान प्रदान चलता रहा। यह लंबा इतिहास पाँच अध्यायों में संक्षिप्त रूप से वर्णित है। प्रथम में यवन-पह्लवों से पूर्व पश्चिमी एशिया तथा भारत के संबंध तथा भारत के ऊपर सुमेरी, बाबुली, तथा ईरानी प्रभाव का आकलन है। द्वितीय में यवन-पह्लव प्रभाव का सीमानिर्धारण, तृतीय में शक-कुषण प्रभाव का और चतुर्थ में हूण-किरात प्रभाव का विवेचन किया गया है। अबतक की आनेवाली जातियाँ इस देश को अंशतः प्रभावित करते हुए भी यहाँ के जीवन में पूर्णतः विलीन हो गईं। पंचम अध्याय में अरब, तुर्क, मुगल तथा युरोपीय प्रभाव का विश्लेषण है। अरब, तुर्क और मुगल अपने राजनीतिक प्रसार में, किंतु इसलाम से अनुप्राणित होकर, यहाँ आए थे। उनको अपने धर्म, संस्कृति तथा भाषा का आग्रह था। वे भारतीय जीवन में संपूर्ण खो जाने को तैयार नहीं थे। बहुत दिनों तक उनका जीवनक्रम स्वतंत्र और यहाँ के जीवन के समानांतर चलता रहा। परंतु संपर्क और सांनिध्य का तर्क तो अपना कार्य करता रहता है। स्थिति के वशीभूत होकर दोनों को एक दूसरे के निकट आकर आदान प्रदान करना पड़ा। जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ हिंदी भाषा और साहित्य ने इन जातियों से बहुत कुछ ग्रहण किया। युरोपीय शुद्ध आक्रमणकारी और शोषक थे। वे भारत में बसने नहीं आए थे। अतः भारत में अत्यंत वर्जनशीलता के साथ रहे, उनके आदान प्रादान का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता की तरह देश पर अपनी भाषा और संस्कृति का आरोप करने का प्रयत्न किया। परंतु केवल आरोप के द्वारा अँगरेजी भाषा और युरोपीय संस्कृति का प्रभाव भारत पर उतना

नहीं पड़ता। ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक युग में युरोप का प्राधान्य एक संसारव्यापी घटना है। उसका आतंक और प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। भाषा और साहित्य भी इनसे सुरक्षित नहीं है। इसका वर्णन अध्याय के अंत में हुआ है। आतंक और प्रभाव शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। यह आतंक झंझावात की तरह परंपरागत भारतीय विचारों, विश्वासों और भावनाओं को हिला रहा है, किंतु जीवन का अभिन्न अंग नहीं हो पाया है। यह कहना अभी कठिन है कि उसका कितना अंश आत्मसात् होगा और कितना अगृहीत। अभी यह संघर्ष और द्वंद्व की अवस्था में है।

प्रत्येक साहित्यिक पीढ़ी को दो प्रकार की तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। एक तो अपनी पीठिका से परंपरागत सामाजिक रिक्थ को प्राप्त करने की क्षमता और दूसरे वातावरण और बाहरी स्रोतों से अभ्यागत प्रभावों में से उपयुक्त का चयन कर उसको आत्मसात् करने तथा विरोधी और अनुपयुक्त तत्वों को त्यागने की शक्ति। सामाजिक रिक्थ को प्राप्त करने की क्षमता किसी देश की शिक्षाप्रणाली से सुलभ होती है। यदि शिक्षाप्रणाली देश की राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल है तो उससे सामाजिक रिक्थ प्राप्त हो सकता है, यदि नहीं तो नई पीढ़ी अपने जीवन के मूल स्रोतों से अलग होने लगती है। इसीलिये शिक्षा में माध्यम का प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही सहज रूप से कोई पीढ़ी अपनी परंपरा तक पहुँच पाती है। आज हिंदी साहित्य के ऊपर वर्तमान तथा सामान्य शिक्षाप्रणाली और चिंतन का, जो युरोपीय परंपरा पर अवलंबित है, असाधारण आतंक और प्रभाव है। जब देश दासता में जकड़ा हुआ था तो ये आरोप के रूप में थे; स्वतंत्रता प्राप्त होने पर आवेश और प्रवाह के कारण अब स्वेच्छा से अनुकरण के रूप में। परंपरा गत विचारों और बाह्य प्रभावों के बीच कहीं तो गहरा अंतराल और कहीं घोर संघर्ष है। वास्तव में सहज प्रगति और विकास के लिये परंपरा का ज्ञान और उसपर अवलंबन आवश्यक है। इस अवलंबन के साथ किसी भी उपयुक्त बाहरी प्रभाव को आत्मसात् किया जा सकता है। जहाँ यह संभव नहीं होता वहाँ नई पीढ़ी अपने आधार से छिन्न भिन्न होकर हवा में उड़ने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो वह थपेड़े खाकर नष्टभ्रष्ट हो जाती है और नहीं तो परावलंबन के कारण अपने ही देश में विदेशी चोगा पहनकर बाह्य संस्कृति का अंग बन जाती है। आज हिंदी साहित्य के सामने महान् प्रश्न है: किधर? इस प्रश्न का समाधान ज्ञान और अनुभव के सहारे ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उसको अपनी पीठिका और सामाजिक रिक्थ का परिज्ञान अनिवार्य रूप से होना चाहिए। इसलिये नहीं कि वह पीठिका की ओर मुँह कर वहीं खड़ा रहे, परंतु इसलिये कि पीठिका की संपत्ति और संबल लेकर आगे चल सके और परंपरा में नई कड़ियाँ और नई मंजिलों का नवनिर्माण कर सके।

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास का यह पीठिका भाग हिंदी साहित्य के समस्त इतिहास की पृष्ठिभूमि है, जहाँ से उसके मूल अथवा उद्गम को जीवनरस और पोषण मिलता है। पार्श्ववर्ती और समानांतर प्रभावों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है, किंतु गौण रूप से। इसकी रचना हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की योजना के अनुसार सहकारिता के आधार पर की गई है। इसके प्रणयन में चार लेखकों का सहयोग है। परस्पर एकरूपता तथा सामंजस्य का यथासंभव ध्यान रखते हुए भी इस प्रकार के प्रयास में पुनरावृत्ति और यत्किंचित् वैषम्य रह ही जाता है। संपादक लेखकों के ऊपर अपना मत या आग्रह आरोपित नहीं करता। वह केवल यही देखता है कि विविध सहयोगी लेखकों की रचनाएँ शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल हैं या नहीं और विविध खंड प्रस्तुत योजना के यथासंभव अंगीभूत हो पाए हैं या नहीं। इसके अनंतर अपने मतों और प्रस्तावनाओं के लिये व्यक्तिगत लेखक ही उत्तरदायी होता है। अपने विषय के सिद्धहस्त लेखकों के प्रामाणिक विचार पाठक के सामने आ सकें, यही उद्देश्य ऐसी योजना के सामने रहता है। पुनरावृत्ति से यदि विवेच्य विषय का अधिक स्पष्टीकरण होता है तो वह क्षम्य और सह्य है। ऐसी परिस्थिति में अग्रिम भागों में पूर्वावृत्ति का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

अंत में संपादक का यह सुखद और पवित्र कर्तव्य है कि वह उन सभी व्यक्तियों के प्रति आभार प्रदर्शित करे जिनकी प्रेरणा, सहयोग और परामर्श से इस भाग का प्रणयन संभव हो सका। सर्वप्रथम दिवंगत डा० अमरनाथ झा (भूतपूर्व सभापति, नागरीप्रचारिणी सभा) का श्रद्धापूर्वक स्मरण हो आता है जिनकी प्रेरणा इस इतिहास की पूर्ण योजना के साथ थी। दुःख है कि इस समय वे संसार में नहीं हैं, किंतु इस भाग के प्रकाशन तथा संपूर्ण योजना की पूर्ति से उनके आत्मा को संतोष होगा। इस योजना के संपादकमंडल से भी समय समय पर परामर्श मिलता रहा, जिनके लिये हम उनके आभारी हैं। इस भाग के लेखक, संपादक के अतिरिक्त, डा० भोलाशंकर व्यास, प्रो० बलदेव उपाध्याय और डा० भगवतशरण उपाध्याय के सामयिक और हार्दिक सहयोग के बिना यह कार्य नहीं संपन्न होता। मैं उनके प्रति पर्याप्त कृतज्ञता नहीं प्रकट कर सकता। संपूर्ण योजना को और प्रस्तुत इस भाग को व्यवस्था-संपादक श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' की कार्यकुशलता से बराबर सहायता मिलती रही। वे भी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। श्री शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, से प्रूफ संशोधन और सभा की वर्तनी के पालन में पूर्ण साहाय्य प्राप्त हुआ। उनका मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ। प्रेस कापी तैयार करने में श्री मंगलनाथ सिंह तथा श्री अनर्यमित्र शास्त्री ने मेरी सहायता की जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। श्री रघुनाथ गोविंद वासकर ने सहायक ग्रंथसूची तथा अनुक्रमणिका बड़ी लगन और तत्परता से तैयार की।

नागरी मुद्रण के संजोजक श्री प्रो० मोतीसिंह तथा व्यवस्थापक श्री महताबराय जी ने बड़े परिश्रम और सावधानी से इस ग्रंथ की यथाशीघ्र छपाई कराई। इन सभी सज्जनों के प्रति आभार प्रकट करना हमारा कर्तव्य है। सावधानी के होते हुए भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ ग्रंथ में रह गई हैं। कुछ सभा की वर्तनी के कारण शब्दों के अपने रूप हैं। इसके लिये उदार पाठकगण कृपया क्षमा करेंगे।

हिंदी जगत् में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास है। इसके लिये परंपरा, शास्त्र और विपुल साधन अपेक्षित था, जो हमें सहज उपलब्ध नहीं। अपनी सीमाओं को सबसे अधिक हम जानते हैं। इस प्रयत्न में कई त्रुटियाँ और भूलें रह गई हैं। इस विश्वास से प्रस्तुत मार्ग पर चरण रखा गया है कि साहित्य-सेवियों की साधना से यह उत्तरोत्तर प्रशस्त होगा और हिंदी के भावी उत्थान के लिये केवल संकेत का कार्य करेगा।

राजबली पांडेय

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
विजया दशमी, सं० २०१४ वि०

ग्रा० प्रा० स्प्रा०	ग्रामातीक दर प्राकृत स्प्राखेन
छां० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० ए० सो० बं०	जर्नल ग्राव् दि एशियाटिक सोसायटी ग्राव् बंगाल
ज० बि० उ० रि० सो०	जर्नल ग्राव् बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
जै० सा० इ०	जैन साहित्य का इतिहास
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
द० स्मृ०	दक्षस्मृति
न० च०	नलचंपू
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
ना० सं०	नाथ संप्रदाय
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
नि० सि०	निर्णयसिंधु
नी० वा०	नीतिवाक्यामृत
नै० च०	नैषधीय चरित
प० पु०	पद्म पुराण
प० स्मृ०	पराशर स्मृति
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० सा० इ०	पालि साहित्य का इतिहास
पू० मे०	पूर्वमेघ
प्रा० प्र०	प्राकृतप्रकाश
प्रा० भा०	प्राकृतभाषा
प्रा० भा० इ०	प्राचीन भारत का इतिहास
ब० एं०	बरीड एंपायर्स
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं०	बृहत् संहिता
बृ० स्मृ०	बृहस्पति स्मृति
बौ० द० मी०	बौद्ध दर्शन मीमांसा
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
भा० ग्रा० हि०	भारतीय ग्रार्यभाषा ग्रौर हिंदी

भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० सा० शा०	भारतीय साहित्यशास्त्र
म० प० सु०	महापरिनिब्बानसुत्तंत
म० पु०	मत्स्यपुराण
म० भा०	महाभारत
,, अनुशासन	,, अनुशासन पर्व
,, आदि०	,, आदि पर्व
,, भीष्म	,, भीष्म पर्व
,, वन०	,, वन पर्व
,, विराट०	,, विराट् पर्व
,, शांति०	,, शांति पर्व
म० व०	महावग्ग
मा० पु०	मार्कंडेय पुराण
मुं० उ०	मुंडक उपनिषद्
मे० दू०	मेघदूत
य० वे०	यजुर्वेद
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
र० वं०	रघुवंश
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रा० भा० सा०	राजस्थानी भाषा और साहित्य
व० ध० सू०	वसिष्ठधर्मसूत्र
व० पु०	वराह पुराण
व० स्मृ०	वसिष्ठस्मृति
वा० पु०	वामन पुराण
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० ध० सू०	विष्णुधर्मसूत्र
वि० पु०	विष्णु पुराण
वी० मि०	वीरमित्रोदय
वी० मि० सं०	वीरमित्रोदय संस्कार कांड
वै० ग्रा०	वैदिक ग्रामर
वै० सा०	वैदिक साहित्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि० व०	शिशुपालवध

ग्रा० प्रा० ख्या०	ग्रामातीक दर प्राकृत ख्याखेन
छां० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० ए० सो० बं०	जर्नल ग्राव् दि एशियाटिक सोसायटी ग्राव् बंगाल
ज० बि० उ० रि० सो०	जर्नल ग्राव् बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
जै० सा० इ०	जैन साहित्य का इतिहास
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
द० स्मृ०	दक्षस्मृति
न० च०	नलचंपू
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
ना० सं०	नाथ संप्रदाय
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
नि० सि०	निर्णयसिंधु
नी० वा०	नीतिवाक्यामृत
नै० च०	नैषधीय चरित
प० पु०	पद्म पुराण
प० स्मृ०	पराशर स्मृति
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० सा० इ०	पालि साहित्य का इतिहास
पू० मे०	पूर्वमेघ
प्रा० प्र०	प्राकृतप्रकाश
प्रा० भा०	प्राकृतभाषा
प्रा० भा० इ०	प्राचीन भारत का इतिहास
ब० एं०	बरीड एंपायर्स
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं०	बृहत् संहिता
बृ० स्मृ०	बृहस्पति स्मृति
बौ० द० मी०	बौद्ध दर्शन मीमांसा
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
भा० आ० हि०	भारतीय आर्यभाषा और हिंदी

भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० सा० शा०	भारतीय साहित्यशास्त्र
म० प० सु०	महापरिनिब्बानसुत्तंत
म० पु०	मत्स्यपुराण
म० भा०	महाभारत
„ अनुशासन	„ अनुशासन पर्व
„ आदि०	„ आदि पर्व
„ भीष्म	„ भीष्म पर्व
„ वन०	„ वन पर्व
„ विराट०	„ विराट् पर्व
„ शांति०	„ शांति पर्व
म० व०	महावग्ग
मा० पु०	मार्कंडेय पुराण
मुं० उ०	मुंडक उपनिषद्
मे० दू०	मेघदूत
य० वे०	यजुर्वेद
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
र० वं०	रघुवंश
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रा० भा० सा०	राजस्थानी भाषा और साहित्य
व० ध० सू०	वशिष्ठधर्मसूत्र
व० पु०	वराह पुराण
व० स्मृ०	वशिष्ठस्मृति
वा० पु०	वामन पुराण
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० ध० सू०	विष्णुधर्मसूत्र
वि० पु०	विष्णु पुराण
वी० मि०	वीरमित्रोदय
वी० मि० सं०	वीरमित्रोदय संस्कार कांड
वै० ग्रा०	वैदिक ग्रामर
वै० सा०	वैदिक साहित्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि० व०	शिशुपालवध

ग्रा० प्रा० स्प्रा०	ग्रामातीक दर प्राकृत स्प्राखेन
छां० उ०	छांदोग्य उपनिषद्
ज० ए० सो० बं०	जर्नल आव् दि एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल
ज० बि० उ० रि० सो०	जर्नल आव् बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
जै० सा० इ०	जैन साहित्य का इतिहास
ता० ब्रा०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
द० स्मृ०	दक्षस्मृति
न० च०	नलचंपू
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
ना० सं०	नाथ संप्रदाय
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
नि० सि०	निर्णयसिंधु
नी० वा०	नीतिवाक्यामृत
नै० च०	नैषधीय चरित
प० पु०	पद्म पुराण
प० स्मृ०	पराशर स्मृति
पा० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० सा० इ०	पालि साहित्य का इतिहास
पू० मे०	पूर्वमेघ
प्रा० प्र०	प्राकृतप्रकाश
प्रा० भा०	प्राकृतभाषा
प्रा० भा० इ०	प्राचीन भारत का इतिहास
ब० एं०	बरीड एंपायर्स
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं०	बृहत् संहिता
बृ० स्मृ०	बृहस्पति स्मृति
बौ० द० मी०	बौद्ध दर्शन मीमांसा
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
भा० आ० हि०	भारतीय आर्यभाषा और हिंदी

भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० पु०	भागवत पुराण
भा० सा० शा०	भारतीय साहित्यशास्त्र
म० प० सु०	महापरिनिब्बानसुत्तंत
म० मु०	मत्स्यपुराण
म० भा०	महाभारत
„ अनुशासन	„ अनुशासन पर्व
„ आदि०	„ आदि पर्व
„ भीष्म	„ भीष्म पर्व
„ वन०	„ वन पर्व
„ विराट०	„ विराट् पर्व
„ शांति०	„ शांति पर्व
म० व०	महावग्ग
मा० पु०	मार्कंडेय पुराण
मुं० उ०	मुंडक उपनिषद्
मे० दू०	मेघदूत
य० वे०	यजुर्वेद
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
र० वं०	रघुवंश
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रा० भा० सा०	राजस्थानी भाषा और साहित्य
व० ध० सू०	वशिष्ठधर्मसूत्र
व० पु०	वराह पुराण
व० स्मृ०	वशिष्ठस्मृति
वा० पु०	वामन पुराण
वा० सं०	वाजसनेयी संहिता
वि० ध० सू०	विष्णुधर्मसूत्र
वि० पु०	विष्णु पुराण
वी० मि०	वीरमित्रोदय
वी० मि० सं०	वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
वे० ग्रा०	वैदिक ग्रामर
वै० सा०	वैदिक साहित्य
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि० व०	शिशुपालवध

शु० नि०	शुक्रनीतिसार
शौ० ऋ० प्रा०	शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य
श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
स० वि०	सरस्वती विलास
सं० ड्रा०	संस्कृत ड्रामा
सं० प्र०	संस्कारप्रकाश
सा० द०	साहित्यदर्पण
स्मृ० च०	स्मृतिचंद्रिका
स्मृ० र०	स्मृतिरत्नाकर
ह० च०	हर्षचरित
हि० इ० इ० आ०	हिस्ट्री आव् इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट
हि० इं० लि०	ए हिस्ट्री आव् इंडियन लिटरेचर
हि० ग्रा० अ०	हिस्टारिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश
हि० ग्रा० इ० प्रा०	हिस्टारिकल ग्रामर आव् इंस्क्रिप्शनल प्राकृत्स
हि० फा० आ० इ० सी०	हिस्ट्री आव् फाइन आर्ट्स इन इंडिया ऐंड सीलोन
हि० सं० पो०	हिस्ट्री आव् संस्कृत पोएटिक्स
हि० स० लि०	हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर
हि० सा०	हिंदी साहित्य
हि० सा० आ०	हिंदी साहित्य का आदिकाल
हिं० सा० इ०	हिंदी साहित्य का इतिहास
हिं० सा० भू०	हिंदी साहित्य की भूमिका

विषय सूची

प्रथम खंड

भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

लें० डा० राजबली पांडेय

द्वितीय खंड

साहित्यिक आधार तथा परंपरा

ले० डा० भोलाशंकर व्यास

तृतीय खंड

धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परंपरा

डा० सं० बलदेव उपाध्याय

चतुर्थ खंड

कला

ले० डा० भगवतशरण उपाध्याय

पंचम खंड

बाह्य संपर्क तथा प्रभाव

ले० डा० भगवतशरण उपाध्याय

प्रथम खंड

भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

लेखक

डा० राजबली पांडेय

प्रथम अध्याय

भौगोलिक आधार

हिंदी क्षेत्र का विस्तार

हिंदी का क्षेत्र उसके ऐतिहासिक विकास के साथ बढता रहा है। मूलत. दी दिल्ली और उसके आसपास—प्राचीन कुरु-पाचाल जनपदों—की भाषा थी सको भारत के मुसलिम आक्रमणकारियों ने यह नाम दिया। पहले ईरान या फारस के लोग सिंधुनद की घाटी को ही 'हिंद' कहते थे। पीछे भारत के अन्य भाग भी क्रमश उनके द्वारा इस नाम से बोधित होने लगे। जब भारत में मुसलिम सत्ता स्थापित हुई तो दिल्ली हिंद की राजधानी बनी और वहाँ की भाषा प्रमुख रूप से हिंदी कही जाने लगी।

वैदिक युग में कुरु-पाचाल के भरतों की सतति, भाषा और सस्कृति 'भारती' नाम से सारे देश के लिये प्रतिमान थीं और उनका प्रसार और प्रचार सपूर्ण देश में हुआ। यही कारण है कि 'भारती' सरस्वती का पर्याय हो गई और सारा देश 'भारत' कहा जाने लगा[1]। मनु ने तो यहाँ तक कहा कि 'इस प्रदेश में उत्पन्न ब्राह्मण के पास से पृथ्वी के सपूर्ण मानवा को अपना अपना आचार सीखना चाहिए।'[2] मनु के इस ब्रह्मर्षिदेश में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाचाल तथा शूरसेन प्रदेश समिलित थे। यहाँ की भाषा भारतीय इतिहास में बराबर परिष्कृत और अभिजात

१ 'भारत' नाम की कई व्युत्पत्तियाँ प्राचीन साहित्य में पाई जाती हैं। म० पु० ११४५ के अनुमार 'प्रजा का भरण करने से मनु ही भरत कहलाते थे, अत निरुक्त वचनों से उनके द्वारा शासित देश भारत कहलाया।' ऐत० ब्रा० ८ २३, श० ब्रा० १३ ५ ४ ११ तथा म० भा० आदि० ६९ ४९ के अनुसार दौष्यति भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। भा० पु० ५ ४ ९ में यह कथन है कि ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र महायोगी तथा श्रेष्ठ गुणवाले भरत के कारण यह देश भारत कहलाया। ऋ० वे २ ३३ ११, ऐ० ब्रा० ८ २३, महाभारत तथा पुराणों में भरत के वशजों विजय, विस्तार, पराक्रम तथा यश के विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं। प्राय 'जन' नाम पर ही देशों के नाम रखे जाते थे, अत भरत या भारत 'जन' से भारत व्युत्पत्ति अधिक सभव जान पड़ती है।

२ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रज मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥ मनु० २ २०

3 मनु० २ १९

मानी जाती थी। मगध के उत्कर्ष से भी इस भूभाग का भाषासंबंधी महत्व घटा नहीं। अशोक के लेखों की पालि अथवा प्रारंभिक बौद्ध पालि पर इसी देश की भाषा की शब्दावली तथा रचनापद्धति का प्रभाव है। इस ब्रह्मर्षि देश में भाषा और संस्कृति की दृष्टि से पड़ोस के अन्य प्रदेश भी मिलने लगे। पश्चिम में ब्रह्मावर्त (सरस्वती तथा दृषद्वती के बीच) तथा पूर्व में पूरे अंतर्वेद (गंगा-यमुना के बीच) के मिल जाने से 'मध्यदेश' का बनना प्रारंभ हो गया। क्रमशः हिमालय तथा विंध्य के बीच पश्चिम में विनशन (सरस्वती के अंतर्धान होने का स्थान) से लेकर पूर्व में प्रयाग तक के भूभाग मध्यदेश के भीतर आ गए[१] और इनमें भाषा की एकरूपता आती गई। बुद्धकाल में मध्यदेश की सीमा और बढ़ गई। महावग्ग के अनुसार मज्झिमदेस (=मध्यदेश) की पूर्वी सीमा महासाल के आगे कजंगल (राजमहल=बिहार की पूर्वी सीमा), पूर्वोत्तर सीमा सलावती नदी, दक्षिणी सीमा सेतकण्णिक, पश्चिमी सीमा थून (स्थूण=स्थाणेश्वर) तथा उत्तरी सीमा उशीरध्वज पर्वत थी[२]। इस प्रकार मध्यदेश में पश्चिमोत्तर में उत्तरापथ (पश्चिमी पंजाब, काश्मीर तथा सीमांत), पश्चिम में अपरांत (सौराष्ट्र) तथा पूर्व में सुदूर प्राची (बंगाल तथा आसाम) को छोड़कर समस्त उत्तर भारत अथवा आर्यावर्त आ गया। फलतः कुरु-पांचाली भाषा के विकास और प्रसार का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया। कुरु-पांचाल के भारतीय संस्कृति के प्रतिमान होने तथा उत्तर भारत के मैदान में यातायात तथा परस्पर संपर्क सरल होने के कारण एक बड़े भूभाग पर एक सर्वमान्य भाषा का विकास संभव हुआ।

उत्तर भारत में जब पालि के साहित्यिक प्रयोग के बाद बौद्ध साहित्य में संस्कृत का पुनरावर्तन हुआ तो बौद्धों की मिश्र अथवा गाथा संस्कृत में मध्यदेशीय हिंदी के अनेक मूल तत्व प्रस्तुत हुए। यह मिश्र अथवा गाथा संस्कृत न केवल संपूर्ण उत्तर भारत में बौद्धों द्वारा प्रयुक्त होने लगी, अपितु समस्त पश्चिमोत्तर भारत और उससे निकलकर मध्य एशिया तक पहुँची। महायान बौद्ध संप्रदाय के

[१] हिमवद्विंध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥ मनु० २.२१

मेधातिथि ने इसपर भाष्य करते हुए लिखा है कि 'यह प्रदेश न अति उत्कृष्ट (ऊँचा) और न अति निकृष्ट (नीचा) है इसलिये यह 'मध्यदेश' कहलाता है, न कि पृथ्वी के मध्य में होने के कारण'। यह व्याख्या मध्यकालीन है। बहुत प्राचीन काल में आर्यावर्त और इलावर्त (मध्य हिमालय) के बीच में मध्यदेश पड़ता था। नाम पड़ने का संभवतः यही कारण था।

[२] म० व० ५.१२.१३

संपर्क और प्रभाव से दक्षिणापथ भी अछूता न था। आंध्र, कर्णाटक आदि में महायान के कतिपय केंद्र थे। अतः इस भाषा ने एक बहुजनसुलभ विस्तृत लोकभाषा के लिये क्षेत्र तैयार कर दिया।

पूर्व मध्ययुग में उत्तर भारत के अधिकांश राजकीय तथा साहित्यिक कार्य संस्कृत भाषा के ही द्वारा होते थे, नाटकों तथा काव्यों की प्राकृत भी लोकभाषा न होकर रूढ़ साहित्यिक रूप धारण कर चुकी थी। फिर भी मध्यदेशीय लोकभाषा कई माध्यमों से देश के बड़े भूभाग पर फैल रही थी। इस पूरे युग में कान्यकुब्ज अथवा महोदय प्रायः समस्त उत्तर भारत के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन का केंद्र था। यहाँ के निवासियों के साथ उनकी भाषा भी दूर दूर के प्रदेशों में पहुँची और दूसरे प्रदेश के लोग यहाँ आकर यहाँ की भाषा से प्रभावित होने लगे। तोमरों और चौहानों के समय उत्तर भारत का दूसरा राजनीतिक केंद्र इंद्रस्थान (इंद्रप्रस्थ=दिल्ली) था जिसकी भाषा राजस्थान तथा पश्चिमोत्तर भारत तक पहुँचती थी। अन्य सांस्कृतिक केंद्र प्रयाग, अयोध्या, काशी, हरिद्वार तथा मथुरा-वृंदावन थे। इनके संत और कवियों की रचनाएँ सुदूर प्रदेशों तक जाती थीं। इन तीर्थस्थानों में भारत के सभी भागों से तीर्थयात्री आते थे। उनमें शिक्षित यात्री और भक्त कुछ साहित्यिक रचनाएँ अपने साथ ले जाते थे। देश में संस्कृत के अध्ययन का काशी सबसे बड़ा केंद्र था और इस दृष्टि से मध्यदेशीय भाषा के प्रसार का एक बहुत बड़ा माध्यम भी।

मुसलमानों के आक्रमण तथा उत्तर भारत में उनके राज्यस्थापन के कारण दो प्रकार से हिंदी का प्रचार हुआ। उत्तर भारत के बहुत से राजवंश और उनके परिजन राजस्थान, मध्यभारत, विंध्यप्रदेश तथा मध्यप्रदेश के मरु, जंगल तथा पार्वत्य प्रदेशों में जा बसे और अपने साथ अपनी भाषा भी लेते गए। इसके पश्चात् जब दिल्ली और मध्यदेश से मुसलिम आक्रमणकारियों और विजेताओं का चतुर्दिक् प्रसार हुआ तो उनके विचार-विनिमय और व्यवहार के लिये दिल्ली की भाषा उनके साथ गई। उनके द्वारा हिंदी और उसकी उपभाषा उर्दू का संपूर्ण उत्तर भारत और दक्षिण के बहुत से शासनकेंद्रों में प्रसार हुआ। आधुनिक काल में युरोपीय व्यापारियों एवं शासकों तथा उत्तर भारत के व्यापारियों—मारवाड़ी, पंजाबी, सिंधी तथा गुजराती—से भी हिंदी का संपूर्ण भारत में प्रचार हुआ।

आज जहाँ साहित्य, शिक्षा, शासन तथा सामान्य व्यवहार के लिये हिंदी भाषा का प्रयोग होता है उसमें पूर्व से प्रारंभ कर बिहार, उत्तरप्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, पंजाब, हिमालय की तराई तथा हिमाचल प्रदेश संमिलित हैं। इसकी पूर्वी सीमा राजमहल की पहाड़ियों तक, दक्षिणी सीमा छत्तीसगढ़ (विंध्य के पार महानदी के उद्गम) तक, पश्चिम में सतलज और रावी तक

पंजाब में तथा बीकानेर और जोधपुर तक राजस्थान में है। यह हिंदी का प्रमुख क्षेत्र है। हिंदी की ही उपभाषा उर्दू, जिसमें फारसी और अरबी शब्दों का बाहुल्य है, काश्मीर तथा पश्चिमी पाकिस्तान में प्रायः पठित समाज में सर्वत्र बोली जाती है। हिंदी क्षेत्र के बाहर बंबई, कलकत्ता आदि जैसे बड़े नगरों में हिंदी का भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से पर्याप्त प्रचार है। सं० २००७ वि० में पारित भारतीय संविधान के अनुसार हिंदी भारत की राज्यभाषा घोषित हुई। भारतीय जीवन के विविध क्षेत्रों में उत्तरोत्तर इसका प्रचार होता जा रहा है। किंतु भाषा की दृष्टि से उसके प्रमुख क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा।

२. प्राकृतिक विभाजन[1]

हिंदी के मुख्य क्षेत्र को मोटे तौर पर निम्नलिखित प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है:

(१) हिमालय का पार्वत्य प्रदेश
(२) उत्तर भारत का मैदान
(३) राजस्थान का मरुप्रदेश
(४) मालव प्रदेश
(५) विंध्यमेखला

(१) हिमालय का पार्वत्य प्रदेश—भारत की उत्तरी सीमा पर हिमालय पश्चिम से पूर्व की ओर लगभग सोलह सौ मील की लंबाई में विस्तृत है। वर्षपर्वतों में हिमालय का नाम सबसे पहले आता है[2]। कालिदास के कुमारसंभव में पृथ्वी के मानदंड के रूप में हिमालय का वर्णन किया गया है: 'उत्तर दिशा में देवताओं का आत्मरूप हिमालय नामक नगाधिराज पूर्व तथा अपर समुद्रों का मानों अवगाहन करके पृथ्वी के मानदंड के समान स्थित है'[3]। हिंदी क्षेत्र के उत्तर में इसका ठीक मध्य भाग पड़ता है। सनातन हिम से आच्छादित हिमालय की अधिकांश चोटियाँ या शिखर भी इसी मध्य भाग में पड़ते हैं। पश्चिम से प्रारंभ कर नंदादेवी,

[1] पुराणों के भुवनकोश नामक अध्यायों में भारत के प्राचीन भौतिक तथा राजनीतिक भूगोल का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसके लिये देखिए कू० पु०, अ० ४७; ग० पु०; ब्र० पु०, ४९; म० पु०; मा० पु०, ५७; व०पु०, ८५; वा० पु०, १३; वि०पु०; अंश २, अ० ३।

[2] हिमवान् हेमकूटश्च निषधो मेरुरेव च।
चैत्रः कर्णी च शृंगी च सप्तैते वर्षपर्वताः ॥ म० पु०, अ० ११४

[3] अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीऽवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ कु० सं० १.१

धौलागिरि, गौरीशंकर (एवरेस्ट), कंचनजंगा आदि इनमें प्रसिद्ध हैं। हिमालय के इस भाग में कई शृंखलाएँ, उपत्यकाएँ तथा दूनें हैं। इनमें दक्षिण की ओर सिवालिक (सपादलक्ष) की शृंखला विशेष उल्लेखनीय है। हिमालय की यह दृढ़ शृंखला नदियों की दूनों से कहीं कहीं कटी हुई है, परंतु फिर भी प्रायः अभेद्य और दुर्गम है।

हिमालय की गणना वर्षपर्वतों में इसलिये की गई थी कि वह भारतवर्ष को एशिया के अन्य देशों से अलग करता है। वास्तव में भारत की उत्तरी, पश्चिमोत्तरी तथा पूर्वोत्तरी सीमा या मर्यादा हिमालय और उसकी शृंखलाओं से निर्मित है। इस प्रायः अभेद्य सीमा के कारण भारत पर उत्तर से कोई महत्वपूर्ण जातीय अथवा सैनिक आक्रमण नहीं हुआ और वह संसार के अन्य देशों से अपेक्षाकृत अधिक एकांत में रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यहाँ एक विशेष प्रकार की सभ्यता और जीवन का निर्माण हुआ जो बहुत दिनों तक अपने व्यक्तित्व को बाहरी प्रभावों और आक्रमणों से सुरक्षित रख सका। परंतु जहाँ हिमालय भारत को अन्य देशों से पृथक् रखने की चेष्टा करता है वहाँ अपने पश्चिमोत्तर द्वारों (दर्रों) के रास्ते भारत को पश्चिमी तथा मध्य एशिया से और पूर्वोत्तर रास्तों द्वारा चीन, हिंदचीन एवं हिंदएशिया (इंडोनेशिया) से मिलाता भी रहा है। अतः भारत बाहरी संपर्कों से वंचित नहीं रहा, यद्यपि उसने अपने व्यक्तित्व को दृढ़ता से बचा रखा। हिंदी क्षेत्र में अधिकतर पश्चिमोत्तर से मानव परिवारों और भाषाओं का आगमन समय समय पर होता रहा। उत्तर से मंगोल तत्व भी स्वल्प मात्रा में हिंदी क्षेत्र तक पहुँचता था।

हिंदी क्षेत्र के जलवायु तथा ऋतुपरिवर्तन में भी हिमालय का बहुत बड़ा भाग है। यदि हिमालय की ऊँची शृंखलाएँ भारत के उत्तर में न होतीं तो पश्चिम सागर (अरब सागर) तथा भारत महासागर से उठनेवाली मानसून हवाएँ उनसे टकराकर पानी नहीं बरसा सकती थीं और वर्षा के अभाव में सारा उत्तर भारत शुष्क, तथा अर्द्धमरुभूमि होता। इसके अतिरिक्त उत्तर ध्रुव की ठंढी हवाएँ तिब्बत को पारकर भारत में पहुँचतीं और सारे उत्तर भारत में कठोर जाड़ा पड़ता। इस परिस्थिति में हिंदी क्षेत्र का जलवायु आज के जलवायु से बहुत भिन्न होता और यहाँ की वनसति, जीवधारी, उपज, रहन सहन, सभ्यता और संस्कृति भी अन्य प्रकार की होती।

हिमालय से निकलनेवाली अनेक नदियाँ हैं जो उत्तर भारत के मैदान से बहती हुई पश्चिम सागर (अरब सागर) अथवा बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। वास्तव में इन्हीं नदियों द्वारा लाई मिट्टी से उत्तर भारत का मैदान बना है और वे इसको बराबर सिंचित करती और उपजाऊ बनाती रहती हैं। यदि यह कहा

जाय कि प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत हिमालय की देन है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

हिमालय ने भारतीय मानस और साहित्य को भी बराबर प्रभावित किया है। जहाँ उत्तुंग शृंगोंवाला गगनचुंबी हिमालय सृष्टि की विशालता और विश्व की उच्चता का द्योतक है वहाँ मनुष्य के अहंकार और दर्प को खंडित भी करता है। उसके सामने खड़ा हुआ मानव अपने शरीर की भौतिक स्वल्पता का अनुभव करता है। उसकी ऊँची और दुर्गम गुहाएँ रहस्य और कल्पना के केंद्र रही हैं। हिमालय देवताओं का निवासस्थल है। वहीं यक्ष, गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, गुह्यक आदि अर्द्धदेवयोनियाँ बसती हैं। शिव की ध्यानभूमि मानसरोवर और क्रीड़ाभूमि काम्यकवन हिमालय में ही स्थित हैं। आर्यों का उत्तरी आवर्त 'इलावर्त' हिमालय को ही घेरकर स्थित था। पांडवों का स्वर्गारोहण, दिलीप का गोचारण, कुमारसंभव में कार्तिकेय का जन्म, किरातार्जुनीय में शिव तथा अर्जुन का द्वंद्व आदि अनेक साहित्यिक घटनाओं और कथानकों का स्रोत हिमालय रहा है। मैदानों के कोलाहल और आंदोलन से क्लांत एवं श्रांत मानव विश्राम और शांति के लिये बराबर हिमालय की ओर देखता आया है। ऋषिमुनियों और योगियों के चिंतन और अनुभूति के लिये उर्वर भूमि हिमालय में ही सुलभ थी। इस प्रकार भारतीय जीवन पर भौतिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से हिमालय की गहरी छाप है।

(२) उत्तर भारत का मैदान—हिंदी क्षेत्र में सिंधु घाटी का पूर्वी भाग तथा गंगा और उसकी सहायक नदियों की घाटियों के प्रदेश संमिलित हैं। इसमें प्राचीन काल के ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश तथा आर्यावर्त का अधिकांश आ जाता है[1]। जनपदों की दृष्टि से इसमें कैकेय, मद्र, वाहीक, वाटधान, त्रिगर्त, अंबष्ठ, कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य, पटच्चर, चेदि, वत्स, कोसल, काशी, वज्जि, विदेह, मगध और अंग का समावेश है।[2] त्रिगर्त अथवा काँगड़े की तरफ हिमालय की निचली

[1] ब्रह्मावर्त—पूर्वी पंजाब में दृषद्वती और सरस्वती के बीच का प्रदेश (म० स्मृ० २. १७), ब्रह्मर्षिदेश—इसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल तथा शूरसेन संमिलित थे (म० स्मृ० २. १९), मध्यदेश—हिमालय और विंध्य के बीच पश्चिम में विनशन से पूर्व में प्रयाग तक (म० स्मृ० २.२१) पश्चिम में स्थूण (थानेसर) से पूर्व में कजंगल (राजमहल) तक (म० व०), आर्यावर्त—हिमालय और विंध्य के बीच पूर्व से पश्चिम समुद्र तक (म० स्मृ० २. २२)।

[2] कैकेय (झेलम के किनारे), कुरु (गंगा-यमुना का उत्तरी दोआब और पू० पंजाब), मद्र (चिनाव और रावी के बीच), पंचाल (बरेली से कानपुर तक गंगा का तटवर्ती प्रदेश), वत्स (कौशांबी के चौगिर्द), कोसल (लखनऊ, फैजाबाद, गोरखपुर मंडल),

श्रृंखला पंजाब की तरफ बढ़ आई है, किंतु पश्चिम से चलने पर पूर्वी पंजाब में कोई प्राकृतिक बाधा नहीं उपस्थित होती। इससे आगे बढ़ने पर दिल्ली (प्राचीन इंद्रप्रस्थ) के पास उत्तर से हिमालय की भुजा सिवालिक तथा दक्षिण से अरावली (प्राचीन पारियात्र) की भुजा मिलकर जलविभाजक बनाती हैं और पश्चिम से आनेवाले शत्रु अथवा सेना को रोकने के लिये देहरी (=द्वार) का काम करती हैं। प्रायः इसके पश्चिमोत्तर पानीपत (प्राचीन कुरुक्षेत्र) के मैदान में भारत के बड़े बड़े निर्णायक युद्ध लड़े गए। दिल्ली के पूर्व फिर विंध्याचल (मिर्जापुर) तक कोई पर्वत या पहाड़ी बीच मे नहीं मिलती। विंध्याचल की पहाड़ियाँ नदियो और सेनाओ के पूर्वाभिमुख प्रवाह को यहाँ रोकती हैं। गंगा यहाँ पहुँचकर उत्तरगामिनी होने के लिये विवश होती है। आधुनिक रेलवे मार्ग को भी यही करना पड़ता है। प्राचीन और मध्यकालीन विजेता भी चुनार पहुँचकर उत्तर को मुड़ जाते थे। आरा (शाहाबाद) और छपरा से मैदान का रास्ता फिर पूर्वाभिमुख हो जाता है तथा राजमहल की पहाड़ियों तक सीधा जाता है और द्वारवंग (दरभंगा) पहुँचकर पूर्व-दक्षिण की ओर मुड़ता है।

नदियों द्वारा हिमालय से लाई हुई मिट्टी से उत्तर भारत का मैदान निर्मित हुआ और उन्हीं के द्वारा सींचा जाता है। ये नदियाँ यातायात का साधन भी प्रदान करती हैं। इस उर्वर और सस्य-श्यामला भूमि में मनुष्यजीवन के साधन सरलता से सुलभ होते रहे हैं। अतः अत्यंत प्राचीन काल से यहाँ उपनिवेशों, जनपदों और राज्यों की स्थापना होती रही है। यहाँ बड़े बड़े नगरो और नागरिक जीवन का विकास हुआ। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सहज पूर्ति कर अपने पर्याप्त अवकाश में यहाँ के लोग विद्या, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, शास्त्र, विज्ञान आदि की सृष्टि करते रहे। प्राकृतिक बाधा के अभाव और यातायात सरल होने के कारण एक बडे भूभाग में लोगों का संपर्क और परस्पर संबंध होता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक बड़े पैमाने पर यहाँ भाषाओं का विकास हुआ जो अन्य प्रदेशो में प्राकृतिक विभाजन के कारण संभव नहीं था। विस्तृत भाषा के विकास के कारण चिंतन और समवेदनाएँ भी संतुलित और व्यापक हुईं। आर्यावर्त और भारतवर्ष की कल्पना का उदय भी यहीं हुआ। संपूर्ण देश की एकता और समष्टि की भावना यहीं विकसित हुई। भारतीयता और राष्ट्रीयता का केंद्र यहीं था और विदेशी

वाहीक (रावी और सतलज के बीच), शूरसेन (मथुरा के चौगिर्द), काशी (वाराणसी), वाटधान (सतलज के दक्षिणपूर्व), मत्स्य (अलवर-जयपुर), वज्जि (पश्चिमोत्तर बिहार), त्रिगर्त (काँगड़ा), पटच्चर (शूरसेन के दक्षिण पश्चिम), विदेह (पूर्वोत्तर बिहार), अंबष्ठ (काँगड़े के दक्षिण पूर्व), चेदि (बुंदेलखंड-बघेलखंड), मगध (दक्षिण बिहार) और अंग (मध्यपूर्व बिहार)।

आक्रमण और प्रभाव के प्रति प्रतिक्रिया का भी। आर्यावर्त की व्याख्या करते हुए मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने कहा है : 'आर्य लोग वहाँ वर्तमान रहते हैं; पुनः पुनः समृद्धि को प्राप्त होते हैं। म्लेच्छ (विदेशी) लोग वहाँ आक्रमण करके भी देर तक ठहर नहीं पाते हैं[1]।'

(३) राजस्थान का मरुप्रदेश—राजस्थान किसी समय प्राचीन काल में समुद्र था, जिसमें पंजाब की कई नदियाँ गिरती थीं। प्रसिद्ध सरस्वती नदी इनमें से एक थी। आज मरु के पास जहाँ इसके लुप्त होने का स्थान है उसका नाम विनशन (नष्ट होना) है। उथला होते होते उसने वर्तमान मरुरूप को प्राप्त किया। इस मरुभूमि ने भारतीय इतिहास और भाषा को दो प्रकार से प्रभावित किया है। पश्चिमोत्तर जानेवाली या पश्चिमोत्तर से आनेवाली जातियों का यह पथ-निर्धारण करता है। एक तो उनको सीधे पूर्व-पश्चिम दिशा में जाना पड़ता है, दूसरे पश्चिम में सिंधुनद का किनारा पकड़कर दक्षिण की ओर या पूर्व में मध्यभारत के रास्ते विदर्भ और गुजरात की ओर जाना पड़ता है। भाषाओं का प्रवाह भी प्रायः इन्हीं मार्गों से हुआ है। यह प्रदेश सिंध, पंजाब, उत्तरप्रदेश और मध्यभारत को स्पर्श करता है; अतः इन सभी से प्रभावित हुआ है और सभी को प्रभावित किया है।

इस मरु, पर्वतीय तथा जांगल प्रदेश ने समय समय पर बाहरी आक्रमणों से भारतीय राजवंशों, भाषा, साहित्य तथा धर्म की रक्षा की है और उसको प्रोत्साहन भी दिया है। यूनानी, वाख्त्री, पह्लव, शक, ऋषिक-तुषार (कुषाण), हूण, अरब, अफगान, तुर्क आदि बर्बर आक्रमणकारियों से त्रस्त होकर उत्तर भारत के कतिपय राजवंश, उनके स्वजन, परिजन तथा अनुयायी इस प्रदेश की दुर्गम तथा बीहड़ भूमि में आ बसे और अपने व्यक्तित्व को बचा रखा। प्रथम पाँच आक्रमणों के समय पंजाब की गणजातियाँ पूर्वोत्तर राजस्थान में जा बसीं। परवर्ती आक्रमणों के समय भी यही प्रक्रिया दुहराई गई। इस प्रकार राजस्थान संकटकाल में उत्तर भारत की शरणभूमि बन गया। यहाँ आकर शरणागत राजवंशों और जातियों ने पुनः पुनः अपना पुनरुत्थान किया और अपना पौरुष दिखलाया। सूर्यमंडल और अग्निकुंड से प्रादुर्भूत राजवंशों की कहानी इन्हीं जातियों के पुनरुत्थान का इतिहास है। मरुभूमि को आधार बनाकर इन्होंने विदेशियों का अप्रतिम प्रतिरोध और सामना किया। इनके शौर्य और आत्मबलिदान के ऊपर आधारित काव्यों से ही हिंदी साहित्य के आदिकाल का निर्माण हुआ।

(४) मालव प्रदेश—राजस्थान के चारो ओर उर्वर भूमि का एक वृत्त है। उसका दक्षिण-पूर्व भाग मालव है। इसमें जंगल, पर्वत तथा उपजाऊ पठार

[1] आर्या वर्तन्ते तत्र पुनः पुनरुद्भवन्ति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवन्ति। म० स्मृ० २, २२ पर भाष्य।

सभी संमिलित हैं। पारियात्र अथवा अरावली यहाँ का मुख्य पर्वत तथा शिप्रा प्रमुख नदी है। यह सस्य-श्यामला उर्वर भूमिवाला सुरम्य प्रदेश है जिसमें प्राचीन काल में ही आकर अवंति आदि जनपद बस गए थे। यहाँ की संपन्नता के बारे में उक्ति है 'देश मालवा गहर गंभीर। घर घर रोटी पग पग नीर।' पंजाब की प्रसिद्ध गणजाति 'मालव' के यहाँ बस जाने से इसका नाम मालव पड़ा। उत्तर से एक मार्ग मालवा गुजरात होते हुए दक्षिणापथ को जाता है। अतः उत्तर और दक्षिण के बीच में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी इसका संधिस्थानीय महत्व है। गुजराती, राजस्थानी, व्रजभाषा सभी का पुट मालवी में है जो अपने इन तत्वों को आत्मसात् कर हिंदी को समृद्ध बनाती है।

(५) विंध्य मेखला—जिस प्रकार वर्षपर्वत हिमालय भारत को एशिया के अन्य वर्षों (देशों) से अलग करता है वैसे ही विंध्य (भारत के कुलपर्वतों में से एक[1]) दक्षिणापथ को उत्तर से अलग करता है। भारत के बीचोबीच अथवा कटिप्रदेश में होने के कारण इसे विंध्यमेखला कहते हैं। इसकी शृंखला पश्चिम में खंभात की खाड़ी से पूर्व में उड़ीसा तक चली जाती है। इसका पश्चिमी भाग पारियात्र, उत्तरी विंध्य और दक्षिणी ऋक्ष कहलाता है। इसके पूर्वी भाग में अमरकंटक, महाकातार और छोटा नागपुर की पहाड़ियाँ संमिलित हैं। अमरकंटक से भारत की चार प्रसिद्ध नदियाँ निकलती और विभिन्न दिशाओं में बहती हैं। उत्तर में सोन नद निकलता है जो बघेलखंड और बिहार का चक्कर लगाकर पटना के पहले गंगा में मिलता है। पूर्व में महानदी इससे निकलकर बंगाल के आखात में गिरती है। पश्चिम में नर्मदा और ताप्ती पश्चिमाभिमुख होकर पश्चिम सागर (अरब सागर) में अपना जल छोड़ती हैं। कंटकाकीर्ण जंगलों तथा दुर्गम पर्वतों के कारण विंध्य को बीच से पार करना कठिन है, परंतु इसके पश्चिमी और पूर्वी छोरों से होकर दक्षिण जाने के कतिपय मार्ग हैं जो प्राचीन काल से चालू रहे हैं और उत्तर तथा दक्षिण के बीच में माध्यम का काम करते हैं। अतः विंध्य का भारतीय इतिहास, जीवन तथा साहित्य में महत्व का स्थान रहा है। विंध्य की ऊँचाई और दुर्गमता की कई कहानियाँ प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाई जाती हैं। परंतु मानव पुरुषार्थ प्राकृतिक कठिनाइयों का बराबर अतिक्रमण करता आया है। सर्वप्रथम अगस्त्य ने विंध्य को पार किया, फिर भृगु आदि ऋषियों ने। इसके पश्चात् उत्तर-दक्षिण के आदान-प्रदान की परंपरा सी बन गई। संस्कृत भाषा तथा साहित्य, पालि तथा प्राकृतिक भाषा एवं साहित्य, पूर्व मध्ययुग का हिंदी संत

[1] महेन्द्रो मलयः सह्य शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विंध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥ म० भा०, भीष्म० ९. ११

साहित्य तथा उत्तर मध्ययुग की हिंदी भाषा और साहित्य बराबर विंध्य को पारकर दक्षिण की ओर जाते रहे हैं और इसी प्रकार दक्षिण के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव उत्तर में पहुँचते रहे हैं।

३. पर्वत और नदियाँ

प्राकृतिक विभाजन के संबंध में पर्वतों का उल्लेख हो चुका है। हिंदी के विस्तृत क्षेत्र में नदियों का एक जाल सा बिछा हुआ है जो यहाँ के जीवन के तानेबाने में ओतप्रोत हैं। नदियों की गणना का प्रथम उल्लेख ऋग्वेद के नदी-स्तुति-सूक्त[1] में पाया जाता है, जिसमें गंगा से प्रारंभ कर उससे पश्चिम की नदियों की स्तुति है। इस सूक्त का ऋषि सिंधुक्षित् है। पुराणों के अनुसार यह पंचाल का राजकुमार था जिसकी वाहिनी इन नदियों को पारकर सिंधुतट के पश्चिमोत्तर तक पहुँची थी। कुरु-पंचाल के साहित्य और संस्कृति का प्रसार भी पश्चिमोत्तर में इसी दिशा और गति से हुआ था। नदियों का उल्लेख इस प्रकार है : 'हे गंगे, यमुने, सरस्वति और शुतुद्रि (सतलज) परुष्णी (रावी) के साथ मेरे स्तोम (स्तोत्र) को सुनो। हे मरुद्वृधे (मरुवर्द्धान) और आर्जिकीये[2] ! आशिक्री (चिनाब), वितस्ता (झेलम) और सुषोमा (सोहन) के साथ मेरी स्तुति सुनो।' इसमें दृषद्वती (घग्घर) और विपाशा (व्यास) नामक पंजाब की दो पूर्वीय नदियों की गणना नहीं है। संभवतः सैनिक अथवा धार्मिक दृष्टि से उनका महत्व कम था।

गंगा न केवल हिंदी क्षेत्र की अपितु सारे भारत की सर्वश्रेष्ठ और प्रसिद्ध नदी है। गंगा भारतीय साहित्य में सुरसरि अथवा देवनदी है। देवतात्मा हिमालय की गंगोत्री झील से इसका प्रस्रवण प्रारंभ होता है। अलकनंदा, मंदाकिनी आदि कई धाराओं और नामों से बहती हुई यह हरिद्वार के पास मैदान में उतरती है। कानपुर के ऊपर ही पूर्व से रामगंगा और पश्चिम से कालिंदी गंगा में आकर मिलती है। मैदान में गंगावतरण ने बहुत सी पौराणिक कथाओं और काव्यों को जन्म दिया है।[3] उत्तर के पार्वत्य प्रदेश से लेकर पूर्व में (राजमहल

[1] इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्णया।
आसिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ऋ० वे० १०.७५.५

[2] इसकी पहचान कठिन है। पश्चिमी पंजाब की कोई नदी है।

[3] पुराणों और रामायण में भगीरथ द्वारा गंगावतरण प्रसिद्ध कथा है। ऐसा लगता है कि किसी समय गंगा हिमालय की उपत्यकाओं और सरोवरों में भटकती थी अथवा गंगा और यमुना दोनों अत्यंत प्राचीन काल में राजस्थान समुद्र में गिरती थीं, जिन्हें मोड़कर भगीरथ ने दक्षिण-पूर्वाभिमुख किया।

की पहाड़ियो तक गंगा का प्रवाह हिंदी क्षेत्र का मेरुदंड है। प्राचीन तथा आधुनिक आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के प्रसिद्ध केंद्र हरिद्वार, हस्तिनापुर, कानपुर, प्रयाग (इलाहाबाद), काशी (वाराणसी), पटना (पाटलिपुत्र) आदि गंगा के तट पर ही स्थित हैं।

भौगोलिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियो से गंगा के पश्चात् यमुना का स्थान है। वह भी हिमालय की गर्भश्रृंखला में स्थित यमनोत्री से निकलकर पहले दक्षिणाभिमुख और फिर पूर्वाभिमुख बहकर प्रयाग में गंगा से मिल जाती है। भारत की प्राचीन संस्कृति इसके सहारे भी प्रवाहित हुई थी और इसके किनारे इंद्रप्रस्थ (दिल्ली), मथुरा, आगरा, कोशाम्बी (कोसम) आदि प्रसिद्ध नगर स्थित थे। गगा-यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मर्षिदेश था जहाँ वैदिक सभ्यता और संस्कृति परिपक्व होकर अन्यत्र प्रसारित हुई थी।

सिवालिक की जलविभाजक रेखा के पश्चिम सरस्वती (लुप्त), दृषद्वती (घग्घर, प्रायः लुप्त), सतलज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम और सिंधु आदि नदियाँ हिमालय से निकलकर पश्चिमोत्तर को बहती हैं। पहले सरस्वती राजस्थान के समुद्र में गिरती थी, किंतु अब विनशन के पास लुप्त हो जाती है। व्यास सतलज में मिलती है और शेष नदियाँ सिंधु में। कुरु-पंचाल का पश्चिमोत्तर प्रसारक्षेत्र इन्हीं नदियों के प्रदेश में था और यहाँ पर त्रिगर्त, मद्र, केकय, शिवि, सौवीर, सिंधु आदि जनपद स्थापित थे। वैदिक साहित्य में इन नदियों का इनके पूर्वनामों के साथ प्रायः उल्लेख मिलता है।

पंजाब से दक्षिण चलने पर राजस्थान आ जाता है। इसके पश्चिमोत्तर में नदियों का प्रायः अभाव है। झील अथवा कृत्रिम सागर ही यहाँ के मुख्य जलाशय हैं। अजमेर का अर्णोसागर प्रसिद्ध ऐतिहासिक जलाशय है। साँभर झील से केवल एक लूनी नदी निकलकर दक्षिण-पश्चिम राजस्थान में होती हुई रनकच्छ में गिरती है। मालवा के पठार से कई नदियाँ निकलकर दक्षिणपूर्व राजस्थान होती हुई यमुना मे मिल जाती हैं। इनमें चंबल (चर्मण्वती), छोटी सिंधु (काली सिंधु), वेतवा (वेत्रवती) तथा केन (शुक्तिमती) का उल्लेख किया जा सकता है। चंबल की पश्चिमी सहायक नदी बनास (वर्णास) है जो अरावली से निकलकर चबल में मिलती है। उज्जयिनी से होकर बहनेवाली साहित्यिक शिप्रा नदी मालवा के ही पठार से निकलकर चंबल में गिरती है। विंध्यप्रदेश की नदियों में केवल शोणनद ही प्रसिद्ध है जो प्राचीन साहित्य में शोणभद्र तथा हिरण्यबाहु भी कहलाता था। यह अपनी विशाल जलराशि तथा शोणित बालुका-कणों की विशेषता हुआ पटना के पश्चिम गंगा में मिल जाता है।

पंचाल के समवर्ती गंगाप्रवाह के पूर्व राजमहल की पहाड़ियों तक नदियों का एक जाल सा है। गोमती बरेली के ऊपर हिमालय की तराई से निकलकर लखनऊ

तथा जौनपुर होती हुई बनारस के आगे गंगा से मिल जाती है। गोमती के पूर्व सरयू नदी है। वेद में सरयू का नाम 'सरभू' मिलता है[१]। यह मानसरोवर के दक्षिण से निकलती है। हिमालय में कई धाराएँ इसमें आकर मिलती हैं। सरयू बड़ी विशाल तथा वेगवती नदी है। इसके किनारे पर लोकविश्रुत अयोध्या नगरी स्थित है जहाँ मानव अथवा इक्ष्वाकुवंश की स्थापना हुई थी। इसके किनारे दूसरा प्रसिद्ध नगर छपरा है। यहीं पर सरयू गंगा से मिलती है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने अपने काव्यों में सरयू को अमर किया है।

गोमती और सरयू के बीच में टोंस (तमसा) नदी है जो गाजीपुर और बलिया के बीच में गंगा से जा मिलती है। वाल्मीकि आश्रम की तमसा (मुरला के साथ) यही है जहाँ सीता का दूसरा वनवास और लव-कुश का जन्म हुआ था[२]। आजकल तमसा के किनारे आजमगढ़ नगर और मऊ नामक प्रसिद्ध कस्बा है। सरयू के पूर्व में राप्ती नामक नदी है जिसका प्राचीन नाम अचिरवती अथवा अजिरवती था। यह बुटवल के पास की पहाड़ियों से निकलती है और वेग से बहती हुई देवरिया जिले में बरहज के पास सरयू से मिल जाती है। प्राचीन श्रावस्ती नगरी (सहेत-महेत, गोंडा-बहराइच की सीमा पर) इसी के किनारे थी जो ब्राह्मण और बौद्ध दोनों साहित्यों में प्रसिद्ध थी। दूसरा प्रसिद्ध नगर इसके किनारे गोरखपुर है। बुद्धकाल में कोलिय-गण की राजधानी रामग्राम इसी स्थान पर था जिसे परवर्ती काल में राप्ती बहा ले गई। राप्ती की सहायक नदी रोहिणी बस्ती-गोरखपुर की ऊपरी तराई से निकलकर गोरखपुर के पास राप्ती से मिल जाती है। इसके पूर्व चलकर देवरिया में छोटी गंडक (प्राचीन हिरण्यवती) है। यह भी नेपाल की तराई से निकलती है और दक्षिण-पूर्व को बहती हुई सरयू में मिल जाती है। प्राचीन काल में मल्लों की राज-धानी कुशीनगर इसी के किनारे था। (आजकल उसके छोड़न रामभार ताल के किनारे हैं।) और पूर्व चलने पर उत्तर विहार में बड़ी गंडक (सदानीरा=आधु-निक नारायणी), कोसी (कौशिकी) आदि प्रसिद्ध नदियाँ हैं जो हिमालय से प्रस्रवित होकर उत्तरी विहार को आप्लावित करती हुई गंगा में मिलती हैं। ये नदियाँ जाल की तरह फैली हुई हैं। इनकी लाई हुई मिट्टी से प्रतिवर्ष इनके द्वारा सिंचित मैदान उपजाऊ बनता है। जीवन के साधन सरलता से उपलब्ध होने के कारण इन्हीं नदियों के प्रदेश में प्राचीन काल में कोसल, वैशाली, विदेह आदि राज्यों तथा उनके भग्न होने पर मल्ल तथा वज्जिसंघ के गणों की स्थापना हुई थी[३]।

[१] ऋ० वे०, ५.५३. ९; १०. ६४. ९

[२] भवभूतिकृत उत्तररामचरित में इनका वर्णन पढ़िए।

[३] भारत के प्राचीन भूगोल के लिये देखिए : (१) पुराणों के भुवनकोश नामक अध्याय; (२) बृ० सं० (वराहमिहिर, १४. ७); (३) कनिंगहम : एंश्यंट ज्याग्रफी आव् इंडिया

४. जलवायु

हिंदी का क्षेत्र उत्तर भारत के शीतोष्ण कटिबंध में है। इसमें गर्मी, वर्षा और जाड़ा, तीन मौसमों और छः ऋतुओं—वसंत, ग्रीष्म, पावस, शरत्, हेमंत और शिशिर—का चक्र चलता रहता है। पूर्वी बिहार से लेकर पश्चिमी राजस्थान तक प्रायः संपूर्ण हिंदी क्षेत्र उत्तर से दक्षिण तक समान अक्षांशों में है किंतु मानसून की दिशा, पर्वतों की ऊँचाई तथा मरु की समीपता के कारण विभिन्न स्थानों के तापमान और वर्षापात में अंतर है। मरु के कारण राजस्थान का तापमान दिन में अधिक और रात में कम हो जाता है। उत्तरोत्तर पूर्व की ओर उत्तरप्रदेश, बुंदेलखंड, बघेलखंड और बिहार पहुँचने पर वर्षा अधिक होने के कारण जलवायु आर्द्र और मध्यम हो जाता है। हिमालय के अंचलों में वर्षा और अधिक होती है एवं ऊँचाई के कारण शीत भी अधिक बढ जाता है। विंध्याचल की शृखलाओं में भी वर्षा पर्याप्त होती है किंतु अक्षांश और ऊँचाई कम होने के कारण शीत कम है। इन विभिन्न परिवर्तनों के कारण इस क्षेत्र का मनुष्य ऋतुओं का तीव्र और स्पष्ट अनुभव करता है और उनके प्रति प्रतिक्रिया भी। प्राचीन काल में कालिदास के ऋतुसंहार जैसे ग्रंथ और मध्य तथा आधुनिक युग के अनेक 'बारहमासे' जैसे काव्य इसी क्षेत्र में प्रणीत हो सकते हैं। संस्कृत और हिंदी साहित्यों में विभिन्न ऋतुएँ, संयोग और विप्रलंभ दोनों प्रकार के शृंगारों में, उद्दीपन का कार्य करती हैं। वसंत और शरत् जहाँ प्रकृति के सौकुमार्य तथा लालित्य के द्योतक हैं वहाँ ग्रीष्म तथा हेमंत उसकी कठोरता के। वर्षागम भीषण निदाघ को जहाँ शीतल करता है वहाँ शिशिर वसंत के आने की सूचना देता है। जलवायु की सभी परिस्थितियों का उपयोग साहित्यकारों ने किया है।

५. वनस्पति[१]

विविध प्रकार की भूमि और जलवायु के कारण विविध प्रकार की वनस्पति-संपत्ति हिंदी क्षेत्र में पाई जाती है। हिमालय के निचले जंगलों में पर्वतीय भूमि और प्रचुर वर्षा, पजाब में उपजाऊ भूमि और स्वल्प वर्षा, राजस्थान में मरु तथा

(भारत का प्राचीन भूगोल), (४) नंदलाल दे ज्याग्रैफिकल डिक्शनरी आव् एंश्यट ऐंड मेडिवल इंडिया (प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत का भौगलिक कोश), (५) जयचद्र विद्यालंकार - भारतभूमि और उनके निवासी।

[१] विस्तृत विवरण के लिये देखिए: (१) जे० डी० हूकर: ए स्केच आव् द फ्लोरा आव् ब्रिटिश इंडिया, १९०४, (२) सी० सी० काल्डर - ऐन आउटलाइन वेजिटेशन आव इंडिया (सिलवर जुबिली सेशन, इंडियन सायंस कांग्रेस, १९३७), (३) ए० दास गुप्त: एकोनामिक ऐंड कमर्शल ज्यॉग्रफी आव् इंडिया, १९४१।

अर्द्धमरुभूमि और अत्यल्प वर्षा, मालव और पश्चिमोत्तर मध्यप्रदेश में करैली उपजाऊ भूमि और पर्याप्त वर्षा, विंध्यमेखला के दक्षिणपूर्व भाग में पर्वतीय भूमि और प्रचुर वर्षा, उत्तरप्रदेश और विहार में बहुत ही उपजाऊ भूमि और पर्याप्त वर्षा पाई जाती है। इन्हीं के अनुरूप अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। सुविधा के लिये इनका वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

(१) **वन अथवा जंगल**—उत्तर भारत के मैदान में वन का क्षेत्रफल आजकल अपेक्षाकृत कम है। परंतु प्राचीन तथा मध्ययुग में वनों का आधिक्य था। कृषि का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर बढ़ने से वन कम होते जा रहे हैं। फिर भी वनों के बहुत से अवशेष और उनके प्राचीन नामों के अनेक अवशेष अभी तक पाए जाते हैं। हिमालय और विंध्य में तो अभी तक प्रचुर जंगल है। मैदानों में भी अभी तक नामावशेष मिलते हैं, विशेषकर पूर्वी उत्तरप्रदेश और विहार में। गोरखपुर के उत्तरी भाग में डोमाखंड और कुसुम्ही के शालवन अभी जंगल के रूप में वर्तमान हैं। देवरिया (देवारण्य), चंपारन (चंपारण्य), सारन (सारारण्य), आरा (आरण्य) आदि नामों में प्राचीन अरण्यों के संकेत मिलते हैं। वनों के अतिरिक्त उपवन, उद्यान, वाटिका आदि कृत्रिम रीति से लगाए जाते थे और आजकल भी लगाए जाते हैं। वनों के निम्नांकित प्रकार मिलते हैं :

(अ) **शाश्वत हरित्**—यह वन प्रायः समुद्रतट पर होता है, जहाँ प्रति वर्ष वर्षापात ८० इंच से अधिक है। हिमालय और विंध्य के कुछ भागों में सनातन जंगल पाया जाता है। इनमें विविध प्रकार के सागौन, बाँस, जामुन, नीम, इमली, कई प्रकार के ताड़ आदि पाए जाते हैं। ये वृक्ष काफी आर्थिक महत्व के होते हैं।

(आ) **पतझड़ वन**—ऐसे वन जिनके वृक्षों के पत्ते विशेष ऋतु में झड़ा करते हैं, पतझड़ वन कहलाते हैं। इनको मानसून जंगल भी कहते हैं। हिमालय और विंध्य दोनों के कतिपय भागों में इस प्रकार का वन पाया जाता है। इसके वृक्ष विशाल होते हैं, जिनमें सागौन, शाल, पदौक, अंजन, रक्तचंदन तथा श्वेतचंदन आदि मुख्य हैं। इनमें ताड़ और बाँस भी होते हैं। भारतीय साहित्य में शालवन के बहुत से उल्लेख पाए जाते हैं। भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण कुशीनगर के शालवन-उपवत्तन में ही हुआ था[१]।

(इ) **शुष्कवन**—राजस्थान, पंजाब तथा दक्षिण-पश्चिम उत्तरप्रदेश के कम वर्षावाले प्रदेश में होते हैं। इनके वृक्षों के तने और पत्तियाँ मोटी और मांसल होती हैं। इनमें झाड़, काँटे और बहुत छोटे और कभी कभी पत्रहीन वृक्ष पाए जाते हैं। इस जाति के साहित्यिक वृक्षों में बबूल और करील अधिक प्रसिद्ध हैं जो ब्रज

१ महापरिनिब्बानसुत्तंत।

मंडल में मिलते हैं। बबूल और करील के प्रति बहुत से उपालंभ हिंदी साहित्य मे पाए जाते हैं : 'कहीं-कहीं तो कर्ता (ईश्वर) की भी चौकड़ी (तेज चाल) भूल गई। उन्होंने काबुल में तो मेवा और व्रज मे बबूल उत्पन्न किया[1] ।' वसंत ऋतु में भी करील मे पत्ते नहीं आते। इसकी शिकायत कवियों को बहुत थी। परंतु रसखान जैसे भक्त कवि ने करील के वन के ऊपर न जाने कितने 'कलधौत के धाम' निछावर कर दिए, आदि।

(ई) **पर्वतीय वन**—हिमालय में ३००० फुट से अधिक ऊँचाई और विंध्य में ५००० फुट से अधिक ऊँचाई पर पर्वतीय वन पाए जाते हैं। ये प्रायः शाश्वत हरित होते हैं। हिमालय के वनों में ओक, देवदारु, चीड़, फर, अखरोट, बादाम, ऐश, बर्च, भूर्जपत्र, पाइरस, पोपलार आदि प्रसिद्ध हैं। हिमालय के पूर्वी तथा पश्चिमी वनो मे भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्ष होते हैं जो ४००० उपजातियों और १४७–१६० परिवारों मे बाँटे जा सकते हैं। इन वृक्षों मे देवदारु ने भारतीय कवियों का ध्यान अधिक आकृष्ट किया है। कालिदास ने रघुवंश में देवदारु का महत्व इस प्रकार वर्णन किया है : 'आगे इस देवदारु वृक्ष को देखो। वृषभध्वज शंकर के द्वारा यह पुत्रवत् पाला गया है। स्कंद की माता पार्वती के स्वर्णकुंभ के समान स्तनों से निकले हुए दूध का यह रस जाननेवाला है। एक बार खुजली से व्याकुल जंगली हाथी की रगड से इसकी छाल फट गई थी। हिमालय की तनया पार्वती को इसपर उतना ही शोक हुआ जितना असुरो के अस्त्रो से घायल सेनानी कार्तिकेय को देखकर'[2]। इसी प्रकार कुमारसंभव में भूर्जपत्रो के ऊपर देवांगनाओं द्वारा प्रणयपत्र लिखने का वर्णन पाया जाता है : 'हाथियों की सूँड पर के विंदुओं के समान विंदुओं से शोणित वर्ण तथा धातुओं के रस से बनी मसि से अंकिताक्षर भूर्जपत्र विद्याधरों की सुंदरियों के प्रणयपत्र के लेखन के उपयोग मे आते थे।'[3] प्रियाल और नमेरु आदि संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध वृक्ष इन्हीं पर्वतीय वनो में पाए जाते हैं।

(२) **तराई, मैदान तथा विंध्य पठार के वृक्ष**—इस भाग मे भारत के कतिपय विशाल वृक्ष पाए जाते हैं जो अपनी उपयोगिता और पवित्रता के लिये

[1] कहीं कहीं कर्तार की गई चौकडी भूल। काबुल में मेवा करी व्रज में करी बबूल।

[2] अमुं पुरः पश्यसि देवदारु पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिस्सृताना स्कंदस्य मातुः पयसा रसज्ञः॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः॥ र० व० २३६–३७

[3] न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वच कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रियोपयोगम्॥ कु० स० १.७

प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें अश्वत्थ अथवा पीपल सबसे पहले आता है। भारतीय धर्म में यह विश्ववृक्ष माना जाता है और इसके पत्ते पत्ते में देवताओं का निवास है, ऐसा लोगों का विश्वास है। इसका एक नाम वासुदेव भी है। इसके चिकने और चंचल पत्तों की उपमा मन से दी जाती है। इस कारण पीपल का एक पर्याय चलदल भी है। इसकी विशाल छाया के नीचे मानव और पशु सभी विश्राम पाते हैं। दूसरा विशाल वृक्ष वट या बरगद है। आकार, उपयोगिता और पवित्रता में यह पीपल के समान है। इसकी बरोहें अनेकों की संख्या में भूमि तक पहुँचकर स्तंभ जैसी बन जाती हैं। शत अथवा सहस्रस्तंभ मंडपों और सभाभवनों की कल्पना वटवृक्ष से ही संभवतः उत्पन्न हुई थी। तीसरा विशाल वृक्ष प्लक्ष अथवा पाकड़ है जो गुण में प्रथम दो के समान है। इन वृक्षों को चैत्यवृक्ष भी कहा जाता है, क्योंकि स्वयं इनकी और इनके नीचे अन्य देवताओं की पूजा होती है। दूसरे विशाल वृक्ष उदुंबर (गूलर), शाल्मली (सेमल) आदि पाए जाते हैं। आख्यायिकाओं में इन वृक्षों का बहुत ही उपयोग हुआ है।

(३) **प्रसिद्ध फलवृक्ष**—फलवृक्षों में आम्र (आम) सर्वप्रथम है। इसको साहित्य में चूत और सहकार भी कहा गया है जो इसके भिन्न प्रकार हैं। आम के पल्लव और मंजरी का प्रचुर उपयोग साहित्य में हुआ है। इसकी मंजरी वसंतसेना की दूती मानी गई है और प्रणयी के लिये संकेतवाहिनी। मैदान का शायद ही ऐसा कोई गाँव हो जहाँ अमराइयाँ न हों। मधूक (महुआ), जंबू (जामुन), आमलक (आँवला), पनस (कटहल), टिंटिडी (इमली) आदि के वृक्ष भी बहुतायत से पाए जाते हैं।

(४) **शोभावृक्ष**—शोभावृक्षों में कुछ का उल्लेख किया जा सकता है। नक्तमाल नर्मदा के किनारे होता है। शमी मैदान में भी पाया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इसके गर्भ में अग्नि का निवास है। अतः इसे यज्ञीय वृक्ष भी मानते हैं। अशोक वृक्ष के कई प्रकार हैं जिनमें रक्ताशोक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। साहित्यिक ग्रंथों में इस प्रकार के विश्वास का उल्लेख है कि इसे उत्फुल्ल होने के लिये एक विशेष प्रकार का दोहद चाहिए : किसी कामिनी के पदाघात अथवा आलिंगन से ही अशोक में फूल आते हैं। असन, अर्जुन, शल्लकी, तिलक, कदंब, मौलश्री, अक्ष, अगुरु, कुरबक, इंगुदि आदि की गणना भी बड़े शोभावृक्षों में की जाती है। छोटे शोभावृक्षों में कर्णिकार, कोविदार, कुटज, कुसुम्ह, किंशुक, कदली, बंधूक, पारिजात, मंदार, बकुल, पलाश, सिंधुवार का उल्लेख किया जा सकता है। राजस्थान, विंध्यप्रदेश और बिहार में जहाँ खारी भूमि मिलती है, वहाँ कहीं कहीं ताल, पूग (सुपारी), पुन्नाग, खजूर (खजूर) आदि भी पाए जाते हैं।

(५) **पुष्पपादप और लता**—पाटल, केतकी (केवड़ा), अर्क, कुंकुम, चंपक (चंपा), जपापुष्प (अड़हुल), कामिनी, शेफालिका,

नेवारी, कुंद, यूथिका, मल्लिका, नवमल्लिका, वनज्योत्स्ना आदि पुष्पपादपों में प्रमुख हैं। लताओं मे मालती, माधवी, श्यामा, अतिमुक्त, लवली, लवंगलता, ताबूलवल्ली, द्राक्षा, आदि उद्यानों की बराबर शोभा बढाती रही हैं। जलपुष्पों की संख्या भी काफी बड़ी है। वनस्पतिशास्त्रियों ने १६० उपजातियों का पता लगाया है। इनमें सबसे प्रसिद्ध कुमुदिनी और कमल हैं, जिनके अनेक प्रकार पाए जाते हैं। कुमुदिनी रात्रि में और कमल दिन में खिलता है। कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा और अन्योक्ति मे इन पुष्पो का अत्यधिक उपयोग किया है। निचुल, वेतस् अथवा वानीर नदियों के किनारे होता है। तमसा, गंभीरा तथा मालिनी आदि नदियों के किनारे निचुल के उत्पन्न होने का उल्लेख साहित्य मे पाया जाता है।

(६) तृण—घास मात्र तृणवर्ग के अंतर्गत आते हैं। शष्प नवाङ्कुरित घास को, शाद्वल घास के मैदान को तथा स्तंब घास के अटाव को कहा जाता है। दूर्वा (दूब), काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर, शैलेय आदि प्रसिद्ध घास हैं। इनमें दूब और कुश का धर्म और साहित्य में बहुत उपयोग हुआ है। विज्ञान की दृष्टि से कीचक, वंश अथवा बाँस भी तृणवर्ग के भीतर आता है, यद्यपि यह वास्तविकता में वृक्ष बन जाता है, जिसके कारण इसको तृणध्वज भी कहा गया है।

(७) कृषि-वनस्पति—हिंदी क्षेत्र के बहुत बड़े भाग में कृषि होती है और उसमे अनेक प्रकार के अन्न और रेशों के पौधे उत्पन्न होते हैं। अन्नों में धान विशेषकर बिहार, उत्तरप्रदेश, हिमालय की तराई और विंध्य के पूर्वी भागों में उत्पन्न होता है। व्रीहि अथवा धान वैदिक काल से लेकर अब तक लोकप्रिय अन्न रहा है। कृषिप्रधान राज्यों में तो नाम भी धान के ऊपर रखे जाते थे—बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन [शुद्ध उदन (=भात) वाला] था। धान के सहस्रों प्रकार हैं। गेहूँ मुख्य करके पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा मालवा में होता है। जौ भी प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में होता है जहाँ गेहूँ, किंतु अपेक्षाकृत इसे अधिक शीत की आवश्यकता होती है। ज्वार और बाजरा के मुख्य क्षेत्र राजस्थान, दक्षिण-पश्चिम उत्तरप्रदेश तथा विंध्य के प्रदेश हैं। मक्का प्रायः संपूर्ण हिंदी क्षेत्र में होता है। दलहनो में अरहर, चना, मटर, मसूर, उर्द आदि राजस्थान को छोड़कर प्रायः समस्त हिंदी क्षेत्र में होते हैं। तेलहनो मे अनेक प्रकार के तेलहन इस क्षेत्र में पैदा किए जाते हैं। इनकी उपयोगिता केवल खाद्यान्नो की दृष्टि से नहीं अपितु बहुत प्रकार के उद्योगों के लिये भी है, जैसे तेल, सुगंध, वार्निश, पेंट, चिकनाहट, साबुन, रोशन-बत्ती आदि। मुख्य तेलहन सरसों (सर्षप), अलसी (अतसी), रेंड (एरंड), तिल, मूँगफली आदि हैं।

शर्करा उत्पन्न करनेवाली वनस्पति मे इक्षु अथवा ईख प्रधान है, जिसके अनेक प्रकार हैं। कवियो को ब्रह्मा से इस बात की बराबर शिकायत रही है कि

उन्होंने ईख में फल क्यों नहीं लगाया। कंदों में शकरकंद, गाजर आदि मुख्य हैं किंतु व्यापारिक दृष्टि से इनसे पर्याप्त शक्कर नहीं निकलती।

रेशेवाली वनस्पतियों में कपास, अलसी, पाट, सन आदि मुख्य हैं। कपास के लिये भारत सदा से प्रसिद्ध रहा है। कपास के अधिकतम महीन सूत यहीं तैयार होते रहे हैं। अलसी के रेशे से क्षौमवस्त्र तैयार होता था और आजकल छालटी तैयार होती है। पाट, सन आदि से बोरे, रस्सियाँ, गलीचे आदि तैयार किए जाते हैं।

आरोपित वनस्पतियों में से हिंदी क्षेत्र में पहले नील (इंडिगो) होता था। नए ढंग के रासायनिक रंग बनने के कारण इसकी खेती समाप्त हो गई। अफीम (अहिफेन) मालवा और उत्तरप्रदेश में पहले बहुत होता था। अँगरेज लोग चीन देश को इसका काफी निर्यात करते थे जो पीछे बंद हो गया। इसका उपयोग मुख्यतः औषधों में होता है; कुछ लोग लत पड़ जाने से खाते भी हैं जिनकी संख्या कम हो रही है। गाँजा और भंग नामक मादक वनस्पति भी इस क्षेत्र में होती है। इनका भी औषधीय उपयोग है, किंतु कुछ लोग लत से इनका सेवन करते हैं।

६. जीवजंतु[1]

जलवायु की भिन्नता और भौतिक परिस्थिति की विविधता के कारण हिंदी-क्षेत्र में जीवजंतु की संपत्ति विपुल है और अनेक प्रकार के जीवजंतु यहाँ पाए जाते हैं। सभी जीवों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है; संक्षेप से उनका परिचय दिया जाता है। मोटे तौर पर उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मेरुदंडीय और (२) अमेरुदंडीय।

(१) **मेरुदंडीय**—इसके भी कई प्रकार हैं जिनमें स्तन्यपायी अथवा पिंडज; पक्षी अथवा अंडज; सरीसृप् (रेंगनेवाले, सर्पादि), उछलनेवाले (मेढक आदि), तैरनेवाले (मछली आदि) की गणना है।

(अ) **स्तन्यपायी**—इस वर्ग में मनुष्य का स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य के संबंध में मानवजातियों और परिवारों के प्रसंग में आगे कहा जायगा। दूसरा स्थान बंदरों का है। इनके दो प्रकार प्रमुख हैं—(१) लंगूर अथवा हनुमान और (२) लालमुख बंदर। पहला प्रकार प्रायः जंगलों और दूसरा बस्ती या उसके आसपास पाया जाता

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए—(१) एच० एस० राव : ऐन आउटलाइन आव् दि फाना आव् इंडिया, कलकत्ता, १९३७; (२) इंपीरियल गजेटियर आव् इंडिया, जिल्द १,१९०९; (३) एफ० ह्विस्लर : पापुलर हैंडबुक आव् इंडियन बर्ड्स, लंदन, १९३५।

है। बंदर का संस्कृत नाम वानर, कपि अथवा शाखामृग है। रामायण के कथानक से वानर जाति का घनिष्ठ संबंध है, परंतु यहाँ 'वानर' मानव जातिविशेष का लाछन था।

वन्य और हिंस्र स्तन्यपायियों में सिंह और व्याघ्र अपने विविध प्रकारों के साथ प्रथम उल्लेखनीय हैं। सिंह के अन्य नाम अथवा पर्याय मृगेंद्र, मृगराज, वनराज आदि हैं। सिंह मुख्यतः काठियावाड़ का निवासी है जो हिंदी क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम छोर से संलग्न है। हिंदी साहित्य में सिंह शौर्य, आधिपत्य और उदारता का प्रतीक है। व्याघ्र पर्वतों और जंगलों में प्रायः सर्वत्र मिलता है, यद्यपि सुंदरवन का व्याघ्र सर्वप्रसिद्ध है। चीता, तेंदुआ आदि छोटी जाति के व्याघ्र हिमालय, विंध्य तथा मैदानी जंगलों में भी मिलते हैं। दूसरी श्रेणी के हिंस्र पशुओं में वृक (भेड़िया), शृगाल (गीदड़), लोमड़ी, विडाल (बिल्ली), नकुल (नेवला) कुत्ते, भालू आदि हैं। वृक हिंसा और कठोरता, शृगाल कायरता और धूर्तता, लोमड़ी चालाकी और द्वेषी भाव, बिल्ली वक्रता, नकुल सौभाग्य और कुत्ता स्वामिभक्ति का द्योतक है।

अहिंस्र वन्य पशुओं में हाथी सबसे विशाल और आदरणीय पशु है जो पालतू अवस्था में भी रहता है। यह अपनी बुद्धिमानी और गंभीर चाल के लिये प्रसिद्ध है। बौद्ध साहित्य में यह बुद्ध का और ब्राह्मण साहित्य में गणेश का प्रतीक है। अन्य वन्य पशु महिष और साड, सुरभिगाय, नीलगाय, अनेक प्रकार के मृग—बारहसिंहा, कृष्णसार, कस्तूरीमृग आदि—हैं। इनमें महिष तमोगुण का, साड (वृषभ) पुंसत्व का, सुरभिगाय आकांक्षापूर्ति की प्रतीक है। कृष्णसार यज्ञीय पशु और कस्तूरीमृग भ्रांत मानव का उपमान है।

पालतू पशुओं में गाय, बैल, भैंस, भैंसे, बकरी और भेड़ मनुष्य के लिये दूध, भोजन, कृषि और वहन के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। गाय भारत की सबसे महत्वपूर्ण और पवित्र पशु है। वह ऋजुता और स्नेह की मूर्ति है। बकरी (अजा) यज्ञीय पशु और मेष (भेंड़) अग्नि का वाहन है। दूसरे पालतू जानवर अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गर्दभ (गधा) आदि हैं। घोड़े और हाथी का भारत के सैनिक और राजनीतिक इतिहास में महत्व का स्थान रहा है। घोड़ा (वाजी और तुरंग के रूप में) पुंसत्व और तीव्र गति का प्रतीक है। अश्वतर (खच्चर) भी अपनी दृढ़ता और भारवहन के लिये प्रसिद्ध है। श्वेत अश्वतर पवित्र धार्मिक लाछन अथवा गोत्र के रूप में प्रयुक्त होता था, ऐसा श्वेताश्वतरोपनिषद् से अनुमान किया जा सकता है। गर्दभ तो मूर्खता और दरिद्रता की मूर्ति है और अपनी उष्णता के कारण शीतला का वाहन माना गया है।

उन्होंने ईख में फल क्यों नहीं लगाया। कंदों में शकरकंद, गाजर आदि मुख्य हैं किंतु व्यापारिक दृष्टि से इनसे पर्याप्त शक्कर नहीं निकलती।

रेशेवाली वनस्पतियों में कपास, अलसी, पाट, सन आदि मुख्य हैं। कपास के लिये भारत सदा से प्रसिद्ध रहा है। कपास के अधिकतम महीन सूत यहीं तैयार होते रहे हैं। अलसी के रेशे से क्षौमवस्त्र तैयार होता था और आजकल छालटी तैयार होती है। पाट, सन आदि से बोरे, रस्सियाँ, गलीचे आदि तैयार किए जाते हैं।

आरोपित वनस्पतियों में से हिंदी क्षेत्र में पहले नील (इंडिगो) होता था। नए ढंग के रासायनिक रंग बनने के कारण इसकी खेती समाप्त हो गई। अफीम (अहिफेन) मालवा और उत्तरप्रदेश में पहले बहुत होता था। अँगरेज लोग चीन देश को इसका काफी निर्यात करते थे जो पीछे बंद हो गया। इसका उपयोग मुख्यतः औषधों में होता है; कुछ लोग लत पड़ जाने से खाते भी हैं जिनकी संख्या कम हो रही है। गाँजा और भंग नामक मादक वनस्पति भी इस क्षेत्र में होती है। इनका भी औषधीय उपयोग है, किंतु कुछ लोग लत से इनका सेवन करते हैं।

६. जीवजंतु[1]

जलवायु की भिन्नता और भौतिक परिस्थिति की विविधता के कारण हिंदी-क्षेत्र में जीवजंतु की संपत्ति विपुल है और अनेक प्रकार के जीवजंतु यहाँ पाए जाते हैं। सभी जीवों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है; संक्षेप से उनका परिचय दिया जाता है। मोटे तौर पर उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) मेरुदंडीय और (२) अमेरुदंडीय।

(१) मेरुदंडीय—इसके भी कई प्रकार हैं जिनमें स्तन्यपायी अथवा पिंडज; पक्षी अथवा अंडज; सरीसृप (रेंगनेवाले, सर्पादि), उछलनेवाले (मेढक आदि), तैरनेवाले (मछली आदि) की गणना है।

(अ) स्तन्यपायी—इस वर्ग में मनुष्य का स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य के संबंध में मानवजातियों और परिवारों के प्रसंग में आगे कहा जायगा। दूसरा स्थान बंदरों का है। इनके दो प्रकार प्रमुख हैं—(१) लंगूर अथवा हनुमान और (२) लालमुख बंदर। पहला प्रकार प्रायः जंगलों और दूसरा बस्ती या उसके आसपास पाया जाता

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए—(१) एच० एस० राव : ऐन आउटलाइन आव् दि फाना आव् इंडिया, कलकत्ता, १९३७; (२) इंपीरियल गजेटियर आव् इंडिया, जिल्द १, १९०९; (३) एफ० हिस्लर : पापुलर हैंडबुक आव् इंडियन बर्ड्स, लंदन, १९३५।

है। बंदर का संस्कृत नाम वानर, कपि अथवा शाखामृग है। रामायण के कथानक से वानर जाति का घनिष्ठ संबंध है, परंतु यहाँ 'वानर' मानव जातिविशेष का लाछन था।

वन्य और हिंस्र स्तन्यपायियों में सिंह और व्याघ्र अपने विविध प्रकारों के साथ प्रथम उल्लेखनीय हैं। सिंह के अन्य नाम अथवा पर्याय मृगेंद्र, मृगराज, वनराज आदि हैं। सिंह मुख्यतः काठियावाड़ का निवासी है जो हिंदी क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम छोर से सलग्न है। हिंदी साहित्य में सिंह शौर्य, आधिपत्य और उदारता का प्रतीक है। व्याघ्र पर्वतों और जंगलों में प्रायः सर्वत्र मिलता है, यद्यपि सुंदरवन का व्याघ्र सर्वप्रसिद्ध है। चीता, तेंदुआ आदि छोटी जाति के व्याघ्र हिमालय, विंध्य तथा मैदानी जंगलों में भी मिलते हैं। दूसरी श्रेणी के हिंस्र पशुओं में वृक (भेड़िया), शृगाल (गीदड़), लोमड़ी, विडाल (बिल्ली), नकुल (नेवला) कुत्ते, भालू आदि हैं। वृक हिंसा और कठोरता, शृगाल कायरता और धूर्तता, लोमड़ी चालाकी और द्वेषी भाव, बिल्ली वक्रता, नकुल सौभाग्य और कुत्ता स्वामिभक्ति का द्योतक है।

अहिंस्र वन्य पशुओं में हाथी सबसे विशाल और आदरणीय पशु है जो पालतू अवस्था में भी रहता है। यह अपनी बुद्धिमानी और गंभीर चाल के लिये प्रसिद्ध है। बौद्ध साहित्य में यह बुद्ध का और ब्राह्मण साहित्य में गणेश का प्रतीक है। अन्य वन्य पशु महिष और साड, सुरभिगाय, नीलगाय, अनेक प्रकार के मृग—बारहसिंहा, कृष्णसार, कस्तूरीमृग आदि—हैं। इनमें महिष तमोगुण का, साड (वृषभ) पुंसत्व का, सुरभिगाय आकांक्षापूर्ति की प्रतीक है। कृष्णसार यज्ञीय पशु और कस्तूरीमृग भ्रांत मानव का उपमान है।

पालतू पशुओं में गाय, बैल, भैंस, भैंसे, बकरी और भेंड़ मनुष्य के लिये दूध, भोजन, कृषि और वहन के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। गाय भारत की सबसे महत्वपूर्ण और पवित्र पशु है। वह ऋजुता और स्नेह की मूर्ति है। बकरी (अजा) यज्ञीय पशु और मेष (भेंड़) अग्नि का वाहन है। दूसरे पालतू जानवर अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर), गर्दभ (गधा) आदि हैं। घोड़े और हाथी का भारत के सैनिक और राजनीतिक इतिहास में महत्व का स्थान रहा है। घोड़ा (वाजी और तुरंग के रूप में) पुंसत्व और तीव्र गति का प्रतीक है। अश्वतर (खच्चर) भी अपनी दृढ़ता और भारवहन के लिये प्रसिद्ध है। श्वेत अश्वतर पवित्र धार्मिक लाछन अथवा गोत्र के रूप में प्रयुक्त होता था, ऐसा श्वेताश्वतरोपनिषद् से अनुमान किया जा सकता है। गर्दभ तो मूर्खता और दरिद्रता की मूर्ति है और अपनी उष्णता के कारण शीतला का वाहन माना गया है।

(आ) सरीसृप—स्थल और जल दोनों में पाए जाते हैं। स्थल पर रेंगनेवालों में सर्प (साँप), कच्छप अथवा कश्यप (कछुआ), गिरगिट, छिपकली आदि मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। संसार में सर्पों की जितनी जातियाँ हैं वे प्रायः सब भारत में पाई जाती हैं, किंतु उनमें विषैले सर्पों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। घने और आर्द्र जंगलों में सबसे बड़ा सर्प अजगर पाया जाता है जो अपने शिकार को काटता नहीं अपितु निगल जाता है। अजा अथवा बकरी जैसे जानवरों को सीधे निगल जानेवाला गर (गला) रखने के कारण ही इसका नाम अजगर पड़ा। विषैले सर्पों में गेहुअन और करइत प्रसिद्ध हैं। धामन बहुत बड़ा सर्प होता है, किंतु वह बहुत भीरु और निरीह है। सुंदर नाग-नागिनियों के कई प्रकार झाड़ों और वृक्षों पर पाए जाते हैं। नाग अथवा सर्प आदिकाल से भय और पूजा का पात्र रहा है। वह शक्ति, गति, मृत्यु और क्रूरता का प्रतीक है। नाग कुछ जातियों का धार्मिक लांछन था, जिसके नाम से वे पुकारी जाती थीं। कछुआ इंद्रियसंयम और स्थितिप्रज्ञता का द्योतक है।

जलीय सरीसृपों में मकर (घड़ियाल), नक्र (नाक), सूँस आदि प्रसिद्ध हैं। मकर विशालकाय और भयानक जीव है। यह अपनी कामुकता और उत्पादन शक्ति के लिये प्रसिद्ध है। यह गंगा का वाहन तथा कामदेव की ध्वजा का लांछन है। नदियों, झीलों, तालों और विविध प्रकार के जलाशयों में अनेक प्रकार की मछलियाँ हिंदी क्षेत्र में पाई जाती हैं। इनके रोहित (लाल मछली), शफरी (छोटी मछली) आदि कई भेद हैं। मछली सौभाग्य और उत्पादन का सूचक है। शफरी (मछली) के नेत्र चंचलता के द्योतक हैं। मछलियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मेढक (मंडूक), केकड़े (कर्क) और घोंघचे तथा जोंक भी जलीय सरीसृपों में संमिलित हैं।

(इ) तिर्यक् अथवा पक्षी—वनस्पति और स्तन्यपायी तथा सरीसृप जीवधारियों के समान ही अनेक प्रकार के पक्षी हिंदी क्षेत्र में पाए जाते हैं। उनकी विविधता ने कवियों, शिकारियों और वैज्ञानिकों का ध्यान सदा अपनी ओर आकृष्ट किया है। विभिन्न ऋतुओं में कुछ पक्षी अपने स्थान बदल देते हैं, अतः उनके स्थानगत वर्गीकरण में कठिनाई होती है, किंतु भारत में ऐसे पक्षी कम हैं। थोड़े से पक्षी जाड़ों में हिमालय से मैदान में उतर आते हैं। बहुत परिचित पक्षियों में काक (कौआ), घरेलू मैना (किलहटी) और गौरैया हैं। कौआ अपने काले रंग, कर्कश स्वर और नटखट ढंग के लिये प्रसिद्ध है। किसी अंश तक वह भंगी का काम भी करता है। वैसे तो वह पितरों का पिंडभक्षी भी है। मानव शिर के सँवारे हुए बालों (काकपक्ष) का वह उपमान भी है। साहित्यिक पक्षियों में से अनेक उल्लेखनीय हैं। इनमें मयूर (मोर) सबसे पहले आता है। यह अपने इंद्रधनुष के समान सुंदर पक्षों और अपनी सुरीली केका (बोली) के लिये प्रसिद्ध है।

वर्षागम में यह सुंदर नृत्य करता है। ब्रजमंडल और राजस्थान में विशेष रूप से यह पाया जाता है। दूसरा पक्षी चातक है। यह कोयल का ही एक प्रकार है। ऐसा विश्वास है कि यह केवल स्वाति नक्षत्र के बादल का ही जल पीता है। चकोर तीतर की जाति का एक पक्षी है। यह वर्षा के बाद हरी झुरमुटों में युग्म में पाया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह चंद्रमा की किरणों का रसपान करके जीता है। दूसरे पक्षी शुक (सुआ), सारिका (एक प्रकार की मैना), पारावत, कपोत (कबूतर), हारीत आदि हैं। कोकिल वसंत का गायक है, किंतु भ्रम से वर्षा में भी गा उठता है। कोकिला कौए के घोंसले में अंडा देती है, अतः कोकिल परभृत कहलाता है। हंस अथवा राजहंस मानसरोवर का पक्षी है जो जाड़े में मैदान में उतरता है। यह नीर-क्षीर-विवेक का प्रतीक है। सारस, बलाका (बगुला) और बत्तख, चक्रवाक (चकवा-चकई) इससे मिलते जुलते और समान जाति के पक्षी हैं। कुररी, क्रौंच और कक छोटे गानेवाले पक्षी हैं। उड़ने और गानेवाले पतंगों में मधुमक्खी और भ्रमर अथवा भृंग (भौंरे) का उल्लेख हो सकता है।

बलवान् और शिकारी पक्षियों में गरुड सर्वप्रथम है। यह आधा वास्तविक और आधा कल्पित पक्षी है। इसकी चोंच पर एक चौड़ा उभाड़ होता है और यह अँगरेजी हार्नबिल नामक पक्षी से मिलता जुलता है। यह पक्षिराज है। यह विष्णु का वाहन और सर्पों का शत्रु माना जाता है। यह सूर्य की गति और [illegible] का द्योतक है। गृध्र और जटायु शवभक्षी हिंस्र पक्षी हैं। चील और [illegible] शिकारी पक्षी हैं। उल्लू के बिना पक्षियों का वर्णन पूरा नहीं हो सकता। यह [illegible] शिर और अनुपातरहित बड़ी बड़ी आँखोंवाला रात्रिजागी पक्षी है। [illegible] दिखाई नहीं देता। रात्रि को छोटे छोटे जानवरों—गिलहरी, [illegible] कीड़े मकोड़े आदि को खाकर जीता है। खेती को हानि [illegible] प्रायः खाता है। संभवतः इसीलिये इसे लक्ष्मी का वाहन [illegible]। [illegible] मूर्खता का प्रतीक है, यूनान में ज्ञान और विद्या का।

(२) अमेरुदंडीय—इस वर्ग के जीवधारी [illegible] चित और उपयोगी नहीं हैं जितने मेरुदंडीय वर्ग के, [illegible] कम नहीं है। इनमें बहुत से मनुष्य के लिये [illegible]। शंख, घोंघे, सीप, जोंक, केकड़े आदि इसी वर्ग [illegible] कौड़ी भी इसी जाति के अंतर्गत हैं। इनमें [illegible] होते हैं किंतु कुछ नदियों, झीलों और [illegible] (शुक्ति) शुक्ति-रजत भ्रम के कारण [illegible] आदि में काम आते हैं। केंचुआ, [illegible]। इस

वर्ग में अनंत कीट-पतंगों की गणना हो सकती है, परंतु साहित्य की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है।

७. मानव जातियाँ[1]

आजकल जिस क्षेत्र में हिंदी बोली जाती है उसमें भौगोलिक कारणों से कई जातीय भूमियाँ हैं जिनमें मूलतः कई मानव शाखाओं के लोग रहते थे। सहस्राब्दियों के आवागमन और मिश्रण से सभी मूल जातियों में दूसरी जातियों के तत्व आ मिले हैं और कोई जाति नितांत शुद्ध रूप में नहीं मिलती। फिर भी जातीय भूमियों में प्रधानतः मूल जाति के ही लोग बसते हैं और उनकी अधिकांश जातीय विशेषताएँ वहाँ पाई जाती हैं।

(अ) मानवमिति—नृतत्वशास्त्रियों ने मानव जातियों को पहचानने के लिये मानदंड बना लिया है जिसको मानवमिति (ऐंथ्रोपोमेट्री) कहते हैं। मानवमिति की पहली माप **रंग** है जो श्वेत से लेकर काले के बीच में बदलती रहती है। दूसरी माप **कपाल** अथवा खोपड़ी है। यदि किसी मनुष्य के कपाल की लंबाई १०० हो और उसकी चौड़ाई ७७.७ अथवा उससे कम हो तो मानवमिति के अनुसार उसे **दीर्घकपाल** (डॉलिकोसिफैलिक) कहा जायगा। यदि कपाल की चौड़ाई ८० हो तो उसे **मध्यकपाल** (मिसैटीसिफैलिक) और यदि ८० से अधिक हो तो उसे **वृत्तकपाल** अथवा ह्रस्वकपाल (ब्रेचीसिफैलिक) कहा जायगा। मानव जाति की पहचान का दूसरा साधन **नासिका मान** (नैसल इंडेक्स) है। यदि किसी मनुष्य की नाक की लंबाई १०० मान ली जाय और उसकी चौड़ाई ७० से कम हो तो वह शुकनास या सुनास (लेप्टोर्हाइन) कहलायगा। यदि चौड़ाई ७० से ८५ तक हो तो वह **मध्यनास** (मेसोर्हाइन) और ८५ से अधिक हो तो **स्थूलनास** (प्लैटीर्हाइन) कहा जायगा। इसी प्रकार **नाक के पुल** की ऊँचाई की माप (आरब्रिटोनैसल इंडेक्स) भी मानवजाति के पहचानने में सहायता करती है। बहुत सी मानव जातियों में नाक का ऊपरी भाग चिपटा होता है। उन्हें **अवनाट** कहते हैं। जिनकी नाक का ऊपरी भाग उठा होता है उन्हें **उन्नतनाट** अथवा **प्रणाट**

[1] विस्तृत विवरण के लिये देखिए : (१) ए० बेन्स : एथ्नोग्राफी, स्ट्रासबर्ग, १९१२; (२) कॉल्डवेल : द सेन्सस आव् इंडिया (भारत की मनुष्यगणना), १९०१, १९११, १९२१, १९३१, १९४१; (३) एच० एच० रिसली : द पीपुल आव् इंडिया (भारत के लोग), कलकत्ता एवं लंदन, १९१५; (४) रामप्रसाद चंदा : इंडो-आर्यन रेसेज (आर्यावर्ती जातियाँ), राजशाही, १९१६; (५) बी० एस० गुह : ऐन आउटलाइन आव् द रेश्यल एथ्नोग्राफी आव् इंडिया, कलकत्ता, १९३७; (६) जयचंद्र विद्यालंकार : भारतभूमि और उसके निवासी, खंड २।

कहते हैं। मध्यम उभाड़वालों को **मध्यनाट** कहा जा सकता है। मनुष्य की ऊँचाई भी जाति की एक पहचान है। ५ फीट ७ इंच से अधिक लंबाईवाला मनुष्य **ऊँचा**, ५ फीट ५ इंच से ५ फीट ३ इंच तक **मध्यम** और इससे कम हो तो **नाटा** कहा जाता है। **मुख** और **हनु** (ठुड्ढी) का आगे बढ़ना या न बढ़ना एक दूसरी पहचान है। जहाँ हनु माथे से आगे न बढ़ा हो उसे **समहनु** (आरथागनेथिक) और जहाँ बढ़ा हो उसे **प्रहनु** (प्रागनेथिक) कहते हैं। इसी प्रकार शिर के बालों के कोमल, कड़े, खड़े और कुंचित होने आदि से भी मानवजातियाँ पहचानी जाती हैं।

(**आ**) **मानव परिवार**—मानवमिति की जो विशेषताएँ ऊपर कही गई हैं उनके आधार पर संसार की मानव जातियाँ कई परिवारों अथवा स्कंधों में बाँटी गई हैं। पहला परिवार श्वेत और गौर जातियों का है जिन्हें **आर्य** (भारतीय), **सामी** (सेमेटिक) और **हामी** (हैमेटिक) कहते हैं। आर्यस्कंध गंगा की घाटी से लेकर आयरलैंड और आधुनिक युग में अमेरिका तक फैला हुआ है। सामी जाति में अरब, यहूदी और प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया की कई जातियाँ समिलित थीं। हामी जाति के प्रतिनिधि मिश्र के प्राचीन निवासी थे। इस परिवार की जातियों में लंबा कद, श्वेत, गौर अथवा गोधूम वर्ण या रंग, काले, भूरे, कोमल, सीधे अथवा लहरदार केश, प्रचुर दाढी और मूँछ, दीर्घकपाल, शुकनास, समहनु, आयताकार सीधी आँखें तथा छोटे दाँत पाए जाते हैं। दूसरा परिवार **पीतवर्ण** अथवा **मंगोली** जातियों का है। इनमें मंगोल, चीन-किरात, तुर्क-हूण (तातारी), स्यामी-चीनी, तिब्बती-बर्मी आदि संमिलित हैं। इनमें मध्यम तथा नाटा कद, पीला वर्ण, सीधे रुक्ष केश, मुँह पर बाल कम, वृत्तकपाल, अवनाट, गहरी और तिर्छी आँखें, मध्यम दाँत मिलते हैं। तीसरा मुख्य परिवार **हब्शी** (**निषाद, शबर, पुलिंद**) अथवा निग्रोई जातियों का है जिनमें मध्यम और प्रायः नाटा कद, काला वर्ण, कड़े कुंचित केश, मध्यम दाढी मूँछ, दीर्घ कपाल, स्थूल नाक, मोटे और बहिर्न्यस्त होंठ और बड़े दाँत पाए जाते हैं[1]। यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि उपर्युक्त वर्गीकरण सैद्धांतिक और मोटा है। स्थानीय परिस्थितियाँ अपना स्वयं महत्व रखती हैं और प्रत्येक देश का जातीय अध्ययन वहाँ की भौगोलिक स्थिति के आधार पर प्रारंभ करना चाहिए। पहले लिखा गया है, दीर्घ काल तक जातियों के मिश्रण के कारण जातीय विशेषताओं में भी मिश्रण हो गया है। फिर भी जातीय भूमियों और जातियों का निर्देश निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

[1] हेडन : रेसेज आव् मैन।

(१) आर्य परिवार—उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विंध्याचल तथा पूर्व और अपर (पश्चिम) दोनों समुद्रों के बीच का संपूर्ण उत्तर भारत आर्यावर्त है। भारतीय इतिहास और परंपरा के अनुसार आर्यावर्त की सीमा निर्धारित है[1] और कहा गया है कि 'वहाँ आर्य लोग निवास करते हैं और पुनः पुनः उनका उद्भव होता है। बार बार आक्रमण करके भी वहाँ म्लेच्छ (विदेशी) ठहरते नहीं[2]।' इसी आर्यावर्त का मध्यभाग प्राचीन मध्यदेश था जो आज का मुख्यतः हिंदी क्षेत्र है। भारत के एकमात्र ऐतिहासिक ग्रंथ पुराणों के अनुसार यही आर्यों की मूल भूमि है। यहीं से आर्य आर्यावर्त, भारतवर्ष तथा भारतेतर देशों में फैले। आर्य परिवार की जो विशेषताएँ ऊपर कही गई हैं, वे प्रायः सब यहाँ के मुख्य निवासियों में पाई जाती हैं। केवल श्वेत वर्ण नहीं पाया जाता। वास्तव में भारतीय आर्य श्वेत वर्ण के नहीं अपितु गौर (श्वेत+पीत) और गोधूम (श्वेत+रक्त) वर्ण के होते थे। कहीं कहीं तो अभिजात आर्य परिवारों में श्यामवर्ण के व्यक्तियों का भी उल्लेख मिलता है। भारतवासी श्वेतद्वीप का अस्तित्व हिमाच्छादित पर्वतों के उस पार कहीं मानते थे। वास्तव में आर्य इन्हीं भारतीय आर्यों और उनके निकट संबंधी ईरानी आर्यों को माना जाता था। तथाकथित युरोपीय आर्य आर्यों के दूर के संपर्क या शाखाभूत हो सकते हैं। किंतु उनको भारतीय आर्यों से अभिन्न समझना आवश्यक नहीं।

भारतीय आर्यों के मूल **उद्गम** के प्रश्न को भाषाशास्त्रियों ने अनावश्यक रूप से उलझा दिया है। पहले मध्य एशिया और पुनः युरोप से आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार को सिद्ध करने के लिये उन्होंने बहुत सी कष्टकल्पनाएँ की हैं जिनका मेल भारत और पश्चिमी एशिया के इतिहास में बिल्कुल नहीं बैठता। मूलतः आर्यावर्ती भाषा के विस्तार को तीन शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। पहली आंतर्प्रादेशिक, दूसरी मध्यवर्ती और तीसरी बाह्य प्रादेशिक। शुद्ध आर्यावर्ती भाषा प्रथम और सबसे अधिक मिश्रित तीसरी है। परंतु तीसरी में भी बहुत से तत्व सर्वतोनिष्ठ हैं। आर्यावर्ती भाषा की इस परिस्थिति की व्याख्या कैसे की जाय, यह बहुत बड़ा प्रश्न है। जो लोग मध्य एशिया या युरोप को आर्यों का उद्गम मानते हैं उनके पास इसकी कोई समुचित व्याख्या नहीं है। वे केवल यह कहकर संतोष कर लेते हैं कि बाहर से आनेवाले आर्यों ने आर्येतरों के बीच में अपनी भाषा के प्राचीन रूप को मध्यदेश में अपने शुद्ध

१ आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
म० स्मृ०, २, २२।

२ आर्या वर्तन्ते तत्र पुनःपुनरुद्भवंति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवंति। मेधातिथि, म०स्मृ०, २, २२ पर भाष्य।

संरक्षण के लिये सुरक्षित रखा। परंतु बाहर के आर्यों में, जहाँ जातीय सरक्षण का प्रश्न उतना कठिन नहीं था, संस्कृत या मूल आर्य भाषा का रूप क्यो नहीं सुरक्षित रहा? पार्जिटर ने अपने ग्रंथ 'एंश्येंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) में एक प्रस्थापना की है। उनके अनुसार खीष्टाब्द से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आर्यों की एक शाखा ने मध्य हिमालय (इलावर्त) होकर मध्यदेश पर आक्रमण किया। यही शाखा पुराणों का ऐलवंश है। यही ऐलवंश पहले मध्यदेश में फैला और फिर बाह्य प्रदेशों पर छा गया और उसकी भाषा भी प्रसारित हो गई। पार्जिटर मानव अथवा सूर्यवंश को द्राविड मानते हैं। सच कहा जाय तो यह प्रस्थापना भी एक द्राविड प्राणायाम है। वास्तव में मानव और ऐल दोनों ही आर्यवंश थे और मूलतः मध्यदेशीय। पहले मानव वंश का प्रसार मध्यदेश और बाह्य प्रदेशो पर हुआ, पश्चात् ऐलवश का। जब ऐलवंश मध्यदेश अथवा आतर्प्रदेश में पूर्णतः प्रधान हो गया तो वही आर्यवश का मुख्य स्कंध हो गया। मूलतः एक ही स्थान से बाह्य प्रदेशों मे फैली हुई आर्यशाखाओं की भाषा सर्वतोनिष्ठ मूल तत्वों के साथ रूढ हो गई।

भारत का आर्यपरिवार मूल में आर्येतर मानव जातियों से प्रायः घिरा हुआ था और आज भी मुख्यतः घिरा हुआ है। इन जातियों के संपर्क तथा आवागमन से आर्य परिवार में पर्याप्त मिश्रण हो चुका है और आर्य तत्व ने आर्येतर जातियों को भी प्रभावित किया है। फिर भी मुख्य जातीय भूमियों में वहाँ की मूल जातियाँ अब भी निवास करती हैं और आर्य तत्व को स्पर्श कर उससे प्रभावित होती और किन्हीं अंशों मे उसे भी प्रभावित करती हैं। इनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं :

(१) निपाध, शबर और पुलिंद—निपाध वह मानव वंश है जो अपनी विशेषताओं में अफ्रीका के निग्रो से मिलता जुलता है। इस समय शुद्ध निपाध तत्व अंदमान, निकोबार, कोचीन और त्रावणकोर के कडार और पलायन जातियो, आसाम की अंगामी नागा जाति और हिंदी क्षेत्र में पूर्वी विहार के राजमहल की पहाड़ियो की कुछ जातियों में मिलता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इस वंश के लोग अफ्रीका से आए क्योंकि एक समय दक्षिण भारत और अफ्रीका मिले हुए थे। परंतु ध्यान देने पर स्पष्ट लगता है कि भारतीय निपाध और अफ्रीका के निग्रो या हवशी अभिन्न नहीं है। निपाध जाति और निपाध भूमि का स्पष्ट उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है। मालवा और खानदेश की पश्चिमी सीमा पर नर्मदा, ताप्ती तथा माही नदियो के किनारे सतपुड़ा और आरावली की पहाड़ियों का जागल प्रदेश ही मूलतः निपाध भूमि है। कुछ विद्वानो के विचार में यह भूमि मारवार (जोधपुर) में थी, जो समीचीन नहीं जान पड़ती। नदियों के किनारे नीचे स्थान मे रहने से यह नाम पड़ा। ये जातियाँ जीविका की खोज में क्रमशः उत्तर

भारत में पहुँचीं। इनमें मुख्य मल्लाह, केवट और बिंद हैं। यहाँ पहुँचकर ये यहाँ की ही बोलियाँ बोलती हैं। नदी, नाव, मछली संबंधी शब्दों में संभवतः इनकी देन हो सकती है।

शबर और पुलिंद—ये दोनों ही एक बड़ी शाखा के उपविभाग हैं। शबर को आजकल की भाषा में मुंडा या मुंड कहते हैं। नृतत्वशास्त्री मुंड और द्रविड में जातिशास्त्र की दृष्टि से कोई भेद नहीं मानते, किंतु भाषाशास्त्रियों के मत में दोनों की भाषाएँ स्वतंत्र हैं अतः दोनों स्वतंत्र जातियाँ हैं। मुंड को आग्नेय (आस्ट्रिक) भी कहते हैं क्योंकि वे अग्निकोण (दक्षिणपूर्व) में बसते हैं। आस्ट्रेलिया नाम पड़ने का भी यही कारण है। एक समय विंध्य पर्वत से लेकर आस्ट्रेलिया तक इस जाति के लोग फैले हुए थे। इस समय आग्नेय वंश के लोग मुख्यतः भारत-चीन (इंडो-चाइना) तथा दक्षिणपूर्व भारत में बसते हैं। इनकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—(१) मान-ख्मेर और (२) मुंड या शबर। प्रथम शाखा के लोग भारत में केवल खासी बोलनेवाले आसाम की जातियों में पाए जाते हैं। मुंड या शबर शाखा के लोग विंध्यमेखला और उसके पड़ोस में पाए जाते हैं; विशेषकर उनका स्थान छोटा-नागपुर और संथाल परगना है। इनमें संथाली, मुंडारी, हो, भूमिज, कोरवा आदि संमिलित है। ओराँव लोग एक प्रकार की द्राविड भाषा बोलते हैं, किंतु आज-कल इन्हीं के पड़ोसी हैं। निषादों की तरह इस वंश के भी बहुत से लोग उत्तर की ओर आकर आर्यशाखा से मिल गए हैं। इनकी बोलियाँ आर्यभाषाओं से घिरी होने के कारण उनसे प्रभावित होती जा रही हैं और इनमें से पढ़े लिखे लोग आर्यभाषाएँ पढ़ने लिखने लग गए हैं। परंतु इस संपर्क के कारण बहुत से मूल शबर या मुंड शब्द आर्य भाषाओं में उतर आए हैं। सारी परिस्थितियों से मालूम होता है कि यह वंश विंध्य और उसकी दक्षिण-पूर्व शृंखलाओं का मूल निवासी है। परंतु आधुनिक नृतत्वशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वे भूमध्यसागर के पास से भारत में द्रविडों के पहले आए और भारत होते हुए दक्षिण-पूर्व में चले गए। प्रस्तुत लेखक के विचार में यह प्रस्थापना बहुत ही कष्टकल्पित है। भारत के पश्चिम में आग्नेयों की भाषा और उनका कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता।

(३) द्रविड—द्रविड वंश का एकमात्र मूलस्थान सुदूर दक्षिण, कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश है। भारत के बाहर द्रविड जाति या द्रविड भाषा का कहीं भी पता नहीं लगता। बलूचिस्तान में ब्राहुई नाम की एक बोली अत्यंत सीमित क्षेत्र में बोली जाती है जिसका संबंध द्रविड भाषा से जोड़ा जा सकता है, परंतु यह क्षेत्र भी पहले भारत के अंतर्गत ही था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि व्यापार के सिलसिले में दक्षिण से समुद्रतट के सहारे द्रविड बलूचि-स्तान में पहुँच गए हों और उनका छोटा सा उपनिवेश बन गया हो। जाति-

शास्त्री द्रविड को भी निग्रोई परिवार का मानते थे, परंतु इधर उनको पूर्व भूमध्य-सागरीय या भूमध्यसागरीय माना जाने लगा है। भूमध्यसागरीय प्रस्थापना का कारण है द्रविडो में आर्यवंश के तत्वो का वर्तमान होना और सुदूर दक्षिण की संपूर्ण जनता को भाषा के आधार पर द्रविड मान लेना। वास्तव मे भाषा का आधार द्रविड होते हुए भी द्रविड जनता मे आर्य तत्व (रक्त और शब्दकोश) का काफी मिश्रण है। इस आर्य तत्व को ढूँढने के लिये उत्तर भारत को छोड़कर भूमध्य सागर के पास जाना अनावश्यक है। जिस प्रकार उत्तर भारत के आर्य संपूर्ण भारत में पहुँचे वैसे ही द्रविड जाति भी विभिन्न रूपो—प्रसार, व्यापार, जीविका, तीर्थयात्रा—मे भारत के अन्य भागों में पहुँची, यद्यपि उसका मुख्य स्तभ अब भी सुदूर दक्षिण मे है। दक्षिण से विंध्य पर्वत पार कर यह जाति उत्तर मे हिंदी क्षेत्र तक पहुँचती थी। हिंदी के बहुत से शब्दो और रचना विधान पर द्रविड छाप है। हिदी क्षेत्र की जनता मे भी द्रविड तत्व कमकर और शिल्पी जातियों मे पाया जाता है।

(४) **किरात**—हिमालय के पूर्वोत्तरी सीमात पर और उसके पास के प्रदेशो मे किरात अथवा मंगोलोई जाति के लोग पाए जाते हैं। वैसे तो इनका अधिकाश आसाम और बर्मा की सीमा पर पाया जाता है। आसाम का आधुनिक नाम ही 'अहोम' (असोम) नामक पूर्व से आनेवाली जाति के नाम पर पड़ा है। इनकी शाखा भूटान और सिक्किम मे पाई जाती है। इनके छींटे संपूर्ण पर्वतीय प्रदेश, विशेषकर नेपाल, उत्तरी विहार और बंगाल में मिलते हैं। आजकल की भारतीय भाषा मे इन्हें भोटिया कहते हैं। किंतु भोटियों मे किरात और आर्य रक्त का पर्याप्त मिश्रण हुआ है। इन्हीं भूमियो मे पहले प्राचीन किरात—गंधर्व, किंनर, किंपुरुष आदि—जातियाँ बसती थीं जिनका भारत से घनिष्ठ संबंध था। इनके पूर्व प्रायः संपूर्ण हिमालय (आर्यावर्त) का भाग था और उसका मध्य (इलावर्त) उसका एक मुख्य केंद्र था। वर्तमान किरात जातियों की स्थिति बहुत पुरानी नहीं है। मध्ययुग में कुबलाई खाँ, चगेज खाँ तथा हलाकू खाँ आदि प्रसिद्ध मंगोल विजेताओं के नेतृत्व मे उत्तर की मंगोल जातियाँ हिमालय और दक्षिण पूर्व एशिया की तरफ बढीं और आर्य तथा आग्नेय तत्वो के ऊपर आरोपित हो गईं। इनमें से बहुतों ने भारतीय भाषा अपना ली किंतु उनमे अपने तत्व भी मिलाए। उच्चारण पर तो उनकी गहरी छाप पड़ी।

(५) **दरद, तूरानी तथा ईरानी जाति**—हिंदी क्षेत्र का पश्चिमोत्तर द्वार तूरानी तथा ईरानी जातियो से घिरा है। दरद तत्व उत्तरी पंजाब, काश्मीर और कपिशा (काफिरिस्तान) में पाया जाता है। दरद प्राचीन शकों या खसो के वंशज जान पड़ते हैं, किंतु इनकी पूर्वी शाखा में किरात रक्त का मिश्रण पाया जाता है। तूरानी तत्व पश्चिमोत्तर सीमात प्रदेश,

पश्चिमी पंजाब और सिंध प्रदेश में मिलता है। तूरानी वास्तव में प्राचीन तुरुष्क-हूण के वंशज हैं। ईरानी जाति का तत्व पश्तो और गलवा भाषा बोलनेवालों में वर्तमान है। इसकी पारसीक और मादी दो उपशाखाएँ हैं। यह तत्व आर्य तत्व के सबसे निकट है। प्राचीन काल में इन जातीय भूमियों में रहनेवाले लोगों को नाग, असुर, दैत्य, दानव आदि कहा जाता था। ये जातियाँ आर्यों से संबद्ध थीं और रक्त की दृष्टि से प्रायः समान थीं। इस प्रकार पश्चिमोत्तर और पश्चिम में मध्य एशिया और भूमध्यसागर तक आर्य जाति, भाषा और संस्कृति का संबंध और प्रसार था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिंदी क्षेत्र के बृहत् रूप आर्यावर्त की मुख्य आर्य जाति तीन दिशाओं में आर्येतर जातियों के संपर्क में आई। दक्षिण में निषाद, शबर, पुलिंद और द्राविड जातियों से जो भारत के भीतर की जातियाँ थीं, उसका मिश्रण हुआ। पूर्वोत्तर में किरात अथवा मंगोलोई जातियाँ उसके संपर्क में आईं। पश्चिमोत्तर में आर्य जाति का संपर्क पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया की प्रायः सभी जातियों से था। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी क्षेत्र में न्यूनाधिक मात्रा में इन सभी के तत्व, छींटे और प्रभाव वर्तमान हैं और इनसे हिंदी समृद्ध और अभिवर्द्धमान हुई है।

८. बोलियाँ[१]

हिंदी क्षेत्र में यद्यपि एक मुख्य मानव परिवार (आर्य जाति) की प्रधानता रही है, किंतु इसका विस्तार विशाल होने के कारण, विविध भौगोलिक परिस्थितियों में, उच्चारण तथा शब्दरचना का क्रम विभिन्न रहा है। साथ ही साथ इस क्षेत्र के सीमांतों पर आर्येतर जातियों के साथ संपर्क के कारण ध्वनियों और शब्दों का आदान प्रदान भी होता रहा है। इस परिस्थिति में विभिन्न बोलियों की उत्पत्ति स्वाभाविक है। आज की हिंदी आधुनिक युग में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना का विकसित तथा विस्तृत रूप है, जिसने अनेक स्थानीय बोलियों का अपने में समाहार कर तथा उनको आत्मसात कर अपनी विराटता प्राप्त की है। तथापि ये बोलियाँ आज भी घरों में तथा स्थानीय व्यवहार में काम आती हैं और हिंदी के विविध रूपों को प्रकट करती हैं। अतः उनका ऐतिहासिक अध्ययन आवश्यक तथा मनोरंजक है। इन बोलियों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :

१ विशेष विवरण के लिये देखिए : (१) ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया (भारतवर्ष का भाषासंबंधी पर्यवेक्षण), कलकत्ता, १९०३, १९२८; (२) पांडुरंग दामोदर गुने : ऐन इंट्रोडक्शन टु कंपेरेटिव फाइलालोजी, पूना, १९५०; (३) सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी।

(१) ठेठ हिंदी—जिस हिंदी को, उसका सरकार करके और उसमे स्थानीय बोलियो के साहित्य और संस्कृत तत्सम तथा तद्भव शब्दावली को मिलाकर हिंदी भापा और आज राष्ट्रभाषा का रूप दिया गया है, वह स्थानविशेष की घरेलू और साधारण व्यवहार की बोली भी है। गंगा-यमुना के बीच के प्रदेश का उत्तरी भाग, इसके पूर्व मे रुहेलखंड तथा इसके पश्चिम में पंजाब के अंबाला जिले तक ठेठ हिंदी बोली का क्षेत्र है। इसमें प्राचीन पचाल का उत्तरी भाग, उत्तरी कुरुप्रदेश तथा स्रुघ्न समिलित हैं। संहिताओं, ब्राह्मणो और उपनिषदो के समय तक यहाँ की भाषा शुद्ध और प्रामाणिक मानी जाती थी। दिल्ली, मेरठ तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशो की इस बोली को मध्ययुग में मुसलिम शासको ने अपने सामान्य व्यवहार का माध्यम बनाया और उसको उन सभी प्रदेशो में फैलाया जहाँ उनकी सेना और शासनपद्धति पहुँच सकी।

(२) ब्रजभापा—ठेठ हिंदी बोलनेवाले प्रदेश के नीचे ब्रजभापा का क्षेत्र है। यह प्राचीन शूरसेन जनपद है, जहाँ की शौरसेनी प्राकृत अपने समय में बहुत बड़े भूभाग पर बोली और समझी जाती थी। मध्ययुग मे ब्रजभापा अपने संत-साहित्य और धार्मिक महत्व के कारण भारत के बहुत बड़े भाग मे काव्य और संस्कृति का माध्यम थी। यह साधुभापा भी कहलाती थी, जिसे रमते साधु अपने भजन, प्रवचन और व्यवहार के द्वारा भारत के प्रायः सभी भागो में पहुँचाते थे।

(३) बाँगरू—दिल्ली के पश्चिम-दक्षिण और अंबाला के दक्षिण बाँगर और हरियाना प्रदेश हैं। यहाँ की बोली बाँगरू कहलाती है। इसके ऊपर एक तरफ पंजाबी और दूसरी तरफ राजस्थानी का प्रभाव है। यह दक्षिणपूर्व गुड़गाँव की तरफ जाकर ब्रजभापा मे बदल जाती है।

(४) कन्नौजिया—ब्रजभापा के पूर्व कन्नौजिया का क्षेत्र है। यह प्राचीन दक्षिण पचाल है। यह पूर्व में बैसवाड़ी (अवधी का एक रूप) से मिल जाती है।

(५) बुंदेलखंडी—ब्रजभापा और कन्नौजिया दोनो के दक्षिण में बुंदेलखंडी का क्षेत्र है जो यमुना के दक्षिण विंध्यमेखला होती हुई दक्षिण-पश्चिम में मराठी से जा मिलती है। इसी छोर पर बुंदेलखंडी और मालवी से आक्रांत निमाड़ी बोली है।

इन उपर्युक्त पाँच बोलियों को सामूहिक रूप से पछाहीं हिंदी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में आर्यावर्ती भापाओं के केंद्रवर्ग का यह पश्चिमी रूप है।

(६) अवधी—ठेठ हिंदी और कन्नौजिया के पूर्व अवधी बोली जाती है। इस प्रदेश में आधुनिक लखनऊ और फैजाबाद कमिश्नरी के प्रदेश संमिलित हैं। यह प्राचीन कोसल जनपद का पश्चिमी खंड है।

(७) बघेली-छत्तीसगढ़ी—बुंदेलखंडी के पूर्व में बघेली-छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। इसका बहुत ही विस्तृत क्षेत्र है। यह दक्षिण में महानदी की घाटी और

वस्तर तक पहुँचती है। इसका दक्षिणपूर्व सीमांत उत्कल (उड़िया) और दक्षिण-पश्चिम छोर मराठी से मिल जाता है। यह सारा प्रदेश प्राचीन काल में चेदि और महाकोसल (पूर्वी) कहलाता था।

(८) **भोजपुरी**—यह एक नया नाम है। आरा जिला में भोजपुर इस बोली का केंद्र है, अतः भाषाशास्त्रियों ने इसका नाम भोजपुरी रख दिया। यह सरयू नदी के उत्तर पूरी तराई तथा वर्तमान नेपाल के दक्षिणी भाग और गंगा के दोनों तरफ बोली जाती है। बिहार का संपूर्ण पश्चिमी भाग—चंपारन, सारन और आरा—भोजपुरी बोलता है। भोजपुरी की एक शाखा नागपुरिया पलामू होते हुए राँची तक पहुँचती है। भोजपुरी के क्षेत्र में प्राचीन मल्ल, वज्जि, काशी, कारुष आदि जनपद संमिलित हैं।

(९) **मैथिली**—भोजपुरी के पूर्वोत्तर में मैथिली का क्षेत्र है। यह प्रायः गंगा के उत्तर में बोली जाती है, किंतु अपने पूर्वी सीमांत में गंगा के किनारे दक्षिण भागलपुर में भी उतर आती है। इसके क्षेत्र में संपूर्ण प्राचीन विदेह अथवा मिथिला और अंग का कुछ भाग संमिलित है।

(१०) **मगही** (मागधी)—मैथिली के दक्षिण और भोजपुरी के पूर्व दक्षिण बिहार में मगही बोली जाती है। छोटा नागपुर के उत्तरी भाग हजारीबाग तक भी अब उसका प्रसार हो गया है और वह क्रमशः झाड़खंड में प्रवेश करती जा रही है।

(११) **मालवी**—बुंदेलखंडी पर राजस्थानी की छाया पड़ने से इस बोली का रूप बना है। इसका क्षेत्र प्राचीन अवंति जनपद है।

(१२) **राजस्थानी**—यह संपूर्ण राजस्थान में बोली जाती है, यद्यपि दक्षिण-पूर्व में इसके ऊपर बुंदेलखंडी और मालवी तथा दक्षिण पश्चिम में गुजराती का प्रभाव है। परंतु राजस्थानी स्वयं बाँगरू और पंजाबी को काटती हुई हिमालय की शृंखलाओं में पहुँच जाती है।

(१३) **भीली और संताली**—ये बोलियाँ मूलतः आग्नेय अथवा शवर-पुलिंद परिवार की हैं, परंतु पश्चिम में ये राजस्थानी और मालवी तथा पूर्व में भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी और मागधी से प्रभावित होती जा रही हैं।

(१४) **उत्तरापथ की बोलियाँ**—पंजाबी, हिंदवी, डूँगरी, काश्मीरी और पश्तो आदि बोलियों का हिंदी से प्रायः उतना ही संबंध है जितना भोजपुरी, मैथिली और मगही का। दरद की शिना बोली का काश्मीरी से संबंध है। दरद के बीच में बुरुशास्की नामक एक अत्यंत सीमित बोली का क्षेत्र है। इन बोलियों का संबंध पैशाची प्राकृत से है। इनके मूल शब्द संस्कृत स्रोत के हैं। मध्ययुग में इनके ऊपर फारसी और अरबी शब्दावली का आरोप विदेशी आक्रमणों के कारण हुआ और ये बोलियाँ अरबी लिपि में लिखी जाने लगीं। दरदी पर तिब्बती का भी कुछ रंग

चढ़ा हुआ है। जोधपुर की पश्चिमी सीमा पर सिंधी बोली है जो व्राचड अपभ्रंश से निकली है। यह भी मूलतः संस्कृत उद्गम की है और मध्यकाल में अरबी और फ़ारसी से आक्रांत हुई।

(११) पर्वतीय या परबतिया—ये बोलियाँ काश्मीर और जम्मू के पूर्व में भद्रवा और चंबा से लेकर नेपाल के पूर्वी सीमांत तक बोली जाती हैं। ये मैदान की बोलियों से संबद्ध हैं और हिंदी की राजस्थानी बोली से इनका घनिष्ठ नाता है। इनके तीन उपवर्ग किए जा सकते हैं—(१) पश्चिमी जिसमें भद्रवा से जौनसार तक की बोलियाँ संमिलित हैं, (२) मध्यभागीय या केंद्रीय जो कुमायूँ और गढवाल में बोली जाती है, और (३) पूर्वी जो नेपाल में बोली जाती है। पश्चिमी अथवा भद्रवाही और चमिआली पर काश्मीरी का प्रभाव है। मध्यभागीय या केंद्रीय अंतर्वेद (ठेठ हिंदी) की बोलियों से संबद्ध है। पूर्वी अथवा नेपाली का अवधी, भोजपुरी और मैथिली से संबंध है। इस बोली को परबतिया, गोरखाली या खस-कुरा भी कहते हैं। ठेठ नेपाल तो केवल नेपाल की राजधानी काठमाड़ू की दून तक सीमित था। वर्तमान नेपाल में कई जातीय भूमियाँ और बोलियाँ संमिलित हैं। वर्तमान नेपाल की सांस्कृतिक तथा भाषा संबंधी एकता गोरखा शासन की देन है।

द्वितीय अध्याय

मध्ययुग की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ

हिंदी का प्रारंभिक इतिहास जिन राजनीतिक परिस्थितियों में विकसित हुआ उनकी पीठिका पूर्व मध्ययुग के आदि (सातवीं शती वि०) तक विस्तृत है। भारत के इतिहास में सातवीं से लेकर बारहवीं शती तक जो राजनीतिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उन सबका प्रभाव भारतीय जीवन और हिंदी साहित्य पर पड़ा। इन्हीं प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय और विश्लेषण नीचे दिया जाता है।

१. विघटन तथा विभाजन

स्थाण्वीश्वर (थानेसर) पुष्यभूति वंश के राजा हर्षवर्धन भारत के अंतिम संपूर्ण उत्तरभारत के सम्राट् (सकलोत्तरापथेश्वर[1]) थे। पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमांत से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक और दक्षिण में नर्मदातट से लेकर उत्तर में हिमालय तक उनका साम्राज्य फैला हुआ था। कई परंपराओं के अनुसार दक्षिण और सुदूर दक्षिण (समस्त दक्षिणापथ) के ऊपर भी कुछ समय तक उनका आधिपत्य रहा। इस समय तक चक्रवर्तित्व, देश की एकता और समष्टि का आदर्श तथा भाव जनता और साहित्य में वर्तमान थे। देश में वंशगत शासन होने पर भी जनता के मानस और विजेता के आदर्श में आसेतु-हिमांचल अखंड देश का विग्रह प्रतिष्ठित रहता था। परंतु इसी समय देश के विघटन और विभाजन की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगीं। हर्षवर्धन्न के काल में ही भारत के दो मुख्य विभाजन हो गए। नर्मदा के उत्तर पुष्यभूति और कान्यकुब्ज (कन्नौज) के वर्मन् राज्यों के विलय से बना हुआ हर्षवर्धन का साम्राज्य था। नर्मदा के दक्षिण चालुक्यवंश के द्वितीय पुलकेशिन् का आधिपत्य था जो दक्षिण में परमेश्वर[2] (दक्षिण का सम्राट्) कहलाता था। इन दो समान सशक्त साम्राज्यों के कारण उत्तर और दक्षिण में एक प्रकार का ऐसा शक्ति-संतुलन उत्पन्न हुआ कि दोनों का परस्पर विलय कठिन और शतियों तक प्रायः असंभव हो गया। पुलकेशिन् ने सौराष्ट्र,

[1] समर संसक्त-सकलोत्तरापथेश्वर-श्रीहर्षवर्धन-पराजयोपलब्धपरमेश्वरापरनामधेयः। एपि० इंडि०, जिल्द ५, लेख सं० ४०१ तथा ४०४।

[2] श्रीसत्याश्रय-पृथ्वीवल्लभ-महाराज-समरशत-संघट्ट-संसक्त-परनृपति-पराजयोपलब्ध – परमेश्वरापरनामधेयः। हैदराबाद ताम्रपट्ट, फ्लीट, कन्नड़ राजवंश, पृ० ३५१।

मालवा और राजस्थान पर आक्रमण किया किंतु इधर साम्राज्य निर्माण में उसे स्थायी सफलता नहीं मिली। हर्ष ने भी दक्षिण-विजय का प्रयत्न किया, किंतु उसे भी पूरी सफलता नहीं मिली। उत्तरभारत में उसकी सर्वत्र-विजयिनी सेना नर्मदा तट पर अपने सहस्रों हाथियों को गवाँकर वापस लौट आई[1]।

हर्ष की शक्तिशालिनी भुजाओं ने सिंधु (सिंध प्रदेश) का मंथन और हिमालय की दुर्गम उपत्यकाओं का ग्रहण किया था। किंतु आश्चर्य तो यह है कि उनकी मृत्यु होते ही इतना बड़ा साम्राज्य बात की बात में बिखर गया। हर्ष का कोई पुत्र उत्तराधिकारी नहीं था। किसी निश्चित उत्तराधिकारी के अभाव में उसके मंत्री अर्जुन अथवा अरुणाश्व ने कान्यकुब्ज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। मंत्रि-मंडल और सामंतों को यह अनधिकारचेष्टा पसंद नहीं थी। क्योंकि हर्ष अपने जीवन में संभवतः बौद्ध हो गया था अथवा कम से कम महायान का प्रश्रयदाता था, उसका चीन के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक और राजनीतिक संबंध स्थापित था। चीनी राजदूत कान्यकुब्ज में रहता था। उसकी सैनिक टुकड़ी ने अरुणाश्व को मार भगाया और कुछ समय के लिये कान्यकुब्ज के सिंहासन को अपने संरक्षण में कर लिया। परंतु यह व्यवस्था भी स्थायी नहीं हो सकी। ७०७ से ७५७ वि० के लग-भग तक कान्यकुब्ज का इतिहास बिलकुल अंधकारमय है। परंतु इतना तो निश्चित है कि विघटन की प्रवृत्ति जोरों से चल रही थी। पश्चिमोत्तर में काश्मीर एक प्रबल राज्य था। सिंध अलग राज्य बन गया। पश्चिमी राजस्थान और मालवा में गुर्जर प्रतिहारों का राज्य था। शाकंभरी के चाहुमान (चौहान) अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे। मगध में परवर्ती गुप्त, बंगाल में गौड और प्राग्ज्योतिप में वर्मन् वंश के राज्य थे। कर्णसुवर्ण, ओड्र, उत्कल आदि में भी कई स्थानीय राज्य बन गए। आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में कान्यकुब्ज एक बार पुनः जग उठा। मौखरी वंश के यशोवर्मन् ने अपनी विशाल सेना की सहायता से भारत का दिग्विजय किया। इस दिग्विजय का वर्णन वाक्पतिराज के 'गौडवहो' (गौडवध) नामक प्राकृत महाकाव्य में मिलता है। किंतु यह सैनिक सफलता उल्का के समान थी और इससे देश का राजनीतिक एकीकरण न हो सका। यशोवर्मन काश्मीर के राजा ललितादित्य से पराजित हुआ और उत्तर भारत में फिर अनवस्था फैल गई। इसके पश्चात् कान्यकुब्ज में प्रतिहार तथा गहडवाल वंशों ने तुर्कों के आक्रमण तक शासन किया। इन राजवंशों का पूर्व में बंगाल के पालों तथा सेनों, दक्षिण में चंदेल, चेदि तथा परमारों और पश्चिम में चौहान, तोमर, शाही और आगे

[1] युधिपतिनगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः। ऐहोल, उत्कीर्ण लेख, एपि० इंडि०, ६, पृ० १०।

चलकर तुर्कों से बराबर संघर्ष, मैत्री, संधि और पुनः युद्ध की प्रक्रिया चलती रही।

२. निरंकुश एकतंत्र

इस काल की दूसरी राजनीतिक प्रवृत्ति निरंकुश एकतंत्र की थी। इसका मूल चौथी शती के पूर्वार्द्ध में ढूँढ़ा जा सकता है। उस समय तक देश में दो प्रकार की शासनपद्धतियाँ थीं—(१) एकतांत्रिक और (२) गणतांत्रिक। प्रथम के अनुसार राज्य की संपूर्ण और अंतिम शक्ति एक व्यक्ति—राजा—के हाथ में होती थी, यद्यपि वह व्यवहार में सहायकों और अमात्यों से सहायता लेता था। दूसरी पद्धति के अनुसार राज्य की अंतिम शक्ति और अधिकार गण अथवा समूह के हाथ में होता था; कोई एक व्यक्ति उनपर दावा नहीं कर सकता था; जन अथवा समूह अपने को राजा समझता था। दोनों पद्धपियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती थीं। गणतंत्र के कारण एकतांत्रिक राज्यों की प्रजा में भी राजनीतिक चेतना और स्वातंत्र्य की भावना बनी रहती थी। इसका परिणाम यह होता था कि राजा सिद्धांततः निरंकुश होते हुए भी व्यवहार में प्रजा की अनुमति और सहयोग से राज्य का शासन करते थे। अत्यंत निरंकुश शासकों को प्रजा सहन नहीं कर सकती थी। गुप्तवंशी समुद्रगुप्त (३६२—४३२ वि०) तक मध्य-भारत और राजस्थान में गणराज्य और गणजातियाँ थीं।[1] क्षेत्रफल और जन-संख्या में छोटे होने से गणराज्य सुसंघटित साम्राज्यवादी सेनाओं का सामना करने में सफल नहीं हो सकते थे; अंतस्संघटन, संघनिर्माण और स्वतंत्रता की भावना ही उनकी शक्ति थी। पश्चिमोत्तर भारत के यवनों, शकों तथा कुषणों से लड़ते लड़ते ये गणराज्य शिथिल हो गए थे। अतः इन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली और करदान, आज्ञाकरण, प्रणाम, आगमन आदि से उसके प्रचंड शासन को परितुष्ट किया[2]। फिर भी उनका अस्तित्व बना रहा। गुप्तवंश का द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य गणारि था। वह ४३७ वि० के आसपास सिंहासन पर बैठा। उसने गणों का समूल विनाश किया। उसके समय से भारतीय इतिहास में फिर गणों का प्रादुर्भाव वर्तमान गणतंत्र के पूर्व कभी नहीं हुआ। इस घटना का भारतीय इतिहास पर दूरव्यापी परिणाम दिखाई पड़ता है।

१ इनमें मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक तथा खरप-रिक, नौ का उल्लेख प्रयाग-स्तंभ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में पाया जाता है। फ्लीट: गुप्त अभि०, सं० ३।

२ फ्लीट: गुप्त अभि०, सं० ३।

इस घटना के बाद गुप्त और पुष्यभूति साम्राज्य के समय गणतांत्रिक विचारों को बिलकुल प्रश्रय नहीं मिला और जनसाधारण में राजनीतिक चेतना और स्वातंत्र्य की भावना शिथिल हो गई। एकतंत्र ने सातवीं-आठवीं शती तक धीरे धीरे राज्य की सारी शक्ति को आत्मसात् कर लिया। राजा का जनता के प्रति परंपरागत और सैद्धांतिक दायित्व भी नष्ट हो गया। प्राचीन काल की राजनीतिक परंपरा में मंत्रिमंडल का राजा के ऊपर पर्याप्त नियंत्रण रहता था और मंत्रिमंडल का अस्तित्व राज्य-संचालन के लिये आवश्यक समझा जाता था[1]। मध्ययुग आते आते मंत्रिमंडल के स्थान पर केवल व्यक्तिगत मंत्री रह गए और उनके संयुक्त दायित्व और अधिकार जाते रहे। अब वे राजा की इच्छा और संकेत पर आश्रित थे। इन सबका फल यह हुआ कि देश में निरंकुश एकतंत्र की दृढ़ स्थापना हो गई और राज्य के बनाने बिगाड़ने में प्रजा का अधिकार और रुचि क्षीण हो गई। एकतंत्र के गुणदोष दोनों थे। अनवस्थित और आकस्मिक परिस्थितियों में एकतांत्रिक शासक शीघ्रता और एकचित्तता से राज्य की रक्षा और शासन का संचालन कर सकता था। परंतु जनता की भावना पर इसका परिणाम बुरा हुआ। इससे सामूहिक राजनीतिक चेतना नष्ट हो गई और अन्यायी तथा विदेशी आक्रमणकारियों और शासकों का विरोध करने की क्षमता जाती रही।

२. सामंतवाद

सामंतवाद मध्ययुग की एक विशेष उपज थी, यद्यपि इसका अस्तित्व इसके पूर्व भी पाया जाता है। एक विजयी और साम्राज्यवादी राजा के अधीन बहुत से सामंत होते थे जिनके हाथ में स्थानीय शासन होता था और जो आवश्यकता पड़ने पर राजा की सैनिक सहायता करते थे। भारत में साम्राज्य की सामान्य कल्पना माण्डलिक राज्य की थी, इसलिये सारा साम्राज्य ही स्थानीय सामंतों के बीच बँटा हुआ था। परंतु मध्ययुग में राजनीतिक विशृंखलता, अनिश्चितता और अरक्षा के कारण इस सामंती व्यवस्था को अधिक प्रोत्साहन मिला। परस्पर युद्ध और संघर्ष के कारण सेनाओं का आवागमन लगा रहता था और लूटमार हुआ करती थी। इस परिस्थिति में किसी स्थान की जनता वहाँ के ऐसे किसी सैनिक नेता को अपना शासक मान लेने को तैयार रहती थी जो उसको सुरक्षा प्रदान कर सकता था। उसकी भक्ति भी उसी स्थानीय शासक के प्रति होती थी। उसी को वह कर देती थी और उसी के नेतृत्व में आवश्यकता पड़ने पर लड़ती थी। प्राचीन

[1] सहायसाध्यं राज्यत्व चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवास्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥ अर्थ० १-७।

सामंतवाद और मध्ययुगीन सामंतवाद में एक विशेष अंतर था। प्राचीन काल में सामंतों के होते हुए भी बड़े साम्राज्य के अंतर्गत साम्राज्य अथवा देश के प्रति भक्ति बनी रहती थी। मध्ययुग में, देश के खंडशः विभाजित होने के कारण, बड़े पैमाने पर भक्ति का विकास न होकर केवल स्थानीय सामंत तक वह सीमित हो जाती थी। इसका प्रभाव शासनपद्धति और देश की सैनिक शक्ति पर भी पड़ा। शासन की एकरूपता, संतुलन और आंतरिक संघटन ढीला हो गया। सेना छोटे छोटे झुंडों में बँट गई। उसकी न तो एक प्रकार और संघटित रूप से शिक्षा हो पाती थी और न एक नेतृत्व में वह आवश्यकता पड़ने पर लड़ सकती थी। यदि किसी प्रादेशिक राजा ने कई सामंतों की सेनाओं को किसी विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने के लिये इकट्ठा भी कर लिया तो भी उसको सैनिक सफलता नहीं मिलती थी। पहले तो सैनिक नेतृत्व का ही झगड़ा तय नहीं हो पाता था कि बाहरी सेना चढ़ आती थी। दूसरे यदि कोई नेता चुन भी लिया गया तो सेनाएँ कई स्थानों से आने और समान शिक्षण न पाने से भानमती का कुनबा बन जाती थीं। उनका संयुक्त स्वरूप सैनिक भीड़ का सा हो जाता था न कि सुशिक्षित और सुसंघटित सेना का। यही कारण है कि मध्ययुग की बहुसंख्यक भारतीय सेनाएँ आक्रमणकारियों की छोटी किंतु संघटित सेनाओं के सामने परास्त हो जाती थीं। इस युग के कई सैनिक संघों की विफलता का यह मुख्य कारण था। काबुल और पंजाब के शाही राजाओं राज्यपाल और अनंगपाल के सैनिक संघ इसी कारण पराजित हुए। पृथ्वीराज चौहान का विशाल सैनिक संघ इसी कारण टूट गया। जयचंद्र गहड़वाल की सामंती सेना इतनी बड़ी थी कि स्कंधावारों से रणभूमि तक उसकी पंक्ति नहीं टूटती थी, किंतु वह मुहम्मद गोरी की सैनिक प्रगति के सामने बिलकुल रुक न सकी।

सामंतवाद का सबसे अवांछनीय प्रभाव जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर पड़ा। इससे क्षुद्र राजनीतिक संघर्षों और सैनिकता की प्रवृत्ति बढ़ गई। तुच्छ कारणों से सामंत और उनपर आश्रित राज्य परस्पर लड़ा करते थे। सामंतों का एकमात्र उद्देश्य होता था अपनी सत्ता को बनाए रखना। सामंती राज्य की सारी शक्ति और साधन इसी पर खर्च होते थे। प्रजाहित और जनकल्याण उनका बहुत ही गौण कार्य था। पशुबल उनकी शक्ति थी और दरबारी तड़क भड़क आतंक जमाने का साधन। इसी का अनुकरण साधारण जनता भी करती थी।

४. समष्टि ओझल : स्थानीयता और व्यक्तिवादिता

देश के राजनीतिक विघटन और सामंतवादी प्रथा के कारण साधारण जनता की दृष्टि से देश की इकाई और समष्टि ओझल हो गई। आसेतु-हिमाचल देश की मूर्ति को उसकी आँखें नहीं देख सकती थीं और न तो संपूर्ण देश के हितकल्याण की भावना ही उसके हृदय में लहराती थी। उसकी दृष्टि अब खंडदृष्टि थी। राजनीतिक

अदूरदर्शिता की प्रक्रिया निश्चित रूप से मध्ययुग में ही प्रारंभ हुई। सार्वदेशिकता का स्थान अब क्षुद्र स्थानीयता लेने लगी। अब भारत के बदले, प्रांतीय राज्यों और राजवंशों का महत्व बढ गया। गुर्जरात्रा, शाकंभरी, अवंति, चेदि, जेजाकभुक्ति, कान्यकुब्ज आदि, विभिन्न राजवंशों के अधीन, खंडित देशभक्ति के पात्र बन गए। इनके नामों पर, इनके यश और विस्तार के लिये युद्ध होने लगे और दूसरे प्रदेशों में जाने पर भी इन्हीं नामों से संबोधित होना लोग पसंद करने लगे[1]।

५ राजनीति के प्रति उदासीनता

निरंकुश एकतंत्र, सामंतवाद और देश के खंडित होने से जनता में एक घातक प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे राजनीति के प्रति उदासीनता कह सकते हैं। इसका अर्थ है राजनीतिक महत्वाकांक्षा का अभाव और देश में होनेवाले परिवर्तनों से प्रभावित न होना। पहले राजवंशों के शासन और परिवर्तन में अभिजनों और जानपदों का काफी हाथ रहता था। राजा उनके मत की प्रतिष्ठा करता था और उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। ज्यों ज्यों उनके हाथ से शक्ति और प्रभाव निकलते गए उनमें मानसिक शैथिल्य और उदासीनता ने घर कर लिया। अब राजवंशों के चुनाव में उनका कोई हाथ न था, इसलिये राजवंशों का परिवर्तन उनको प्रभावित भी नहीं करता था। पहले यह दृष्टिकोण भारतीय राजवंशों के पारस्परिक परिवर्तन के संबंध में था। पीछे जब भारतीय राजवंशों का ध्वंस कर विदेशी राजवंश स्थापित होने लगे तो सामान्य जनता ने उन्हें अपना शासक उसी प्रकार स्वीकार किया जिस प्रकार वह किसी भारतीय राजवंश को स्वीकार करती थी। उसका केवल सुरक्षा और जीविका से मतलब था, इसलिये ऐसा करने में कोई मानसिक धक्का उसे नहीं लगता था। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ गई कि मुगलों का राज्य स्थापित होते होते 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥'[2] की कहावत प्रचलित हो गई। इस राजनीतिक दासता और उदासीनता की प्रवृत्ति इस सीमा तक पहुँची कि दिल्ली के मुगल शासक जनता के हृदय में ईश्वर के आसन पर आरूढ हो गए। जगन्नाथ जैसे उद्भट पंडित ने निस्संकोच कहा, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा।'[3] अब राजधानियों के ऊपर कोई भी अधिकार

[1] पंच गौड़—गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल तथा उत्कल और पंच द्रविड़—नागर, महाराष्ट्र, कर्णाट, तैलंग तथा द्रविड़ आदि स्थानीय नाम मध्ययुग में ही प्रचलित हुए।

[2] तुलसीदास रा० च० मा०, द्वितीय सोपान, (ना० प्र० सभा, काशी), कैकेयी-मंथरा-संवाद, १८६।

[3] भामिनीविलास।

करके जनता पर शासन कर सकता था। देश की रक्षा और व्यवस्था का भार अब केवल राजवंशों के ऊपर छोड़ दिया गया था, जनता उसके लिये अपने को उत्तरदायी नहीं समझती थी और न उसमें इसके लिये क्षमता और रुचि थी।

६. राष्ट्रीयता तथा देशभक्ति का ह्रास

राजनीतिक परिस्थिति का दूसरा भयानक परिणाम यह हुआ कि देश के निवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना लुप्त होने लगी। देश की भौगोलिक इकाई के प्रति चेतना और जागरूकता, उसको अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये तैयारी और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करने में कटिबद्धता और आवश्यकता पड़ने पर जीवन का बलिदान करने की साधना लोगों में कम होने लगी। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के समय चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र[1] में राष्ट्र का लक्षण बतलाते समय लिखा था कि इसके निवासियों को शत्रुद्वेषी होना चाहिए अर्थात् किसी भी अवस्था में शत्रु का अस्तित्व और प्रभुत्व देश के अंदर सह्य नहीं हो सकता। चाणक्य का यह भी कथन था कि 'आर्य' (भारतीय नागरिक) कभी 'दास' (दूसरे का गुलाम) नहीं बनाया जा सकता।[2] किंतु मध्ययुग में यह भावना शिथिल पड़ने लगी। सैनिक दुर्बलता से बढ़कर यह मानसिक दुर्बलता थी। यही कारण था कि एक बार विदेशी सत्ता स्थापित होकर बहुत दिनों तक टिक सकी, जबकि प्राचीन काल में विदेशी आक्रमणकारियों को इस देश के निवासी पश्चिमोत्तर कोने में घेरकर आगे नहीं बढ़ने देते थे और थोड़े ही दिनों में उनका टिकना असंभव कर देते थे। यवन, पह्लव, शक, कुषण, हूण आदि बहुत शीघ्र इस देश से मार भगाए गए। इसके विपरीत मध्ययुग में अरब, अफगान, तुर्क और मुगल तथा आधुनिक युग में युरोपीय काफी दिनों तक इस देश पर अपना आधिपत्य जमाए रहे। यदि इस युग में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती तो ऐसा कदापि नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण युरोप के इतिहास से भी हो जाता है। युरोपवालों ने अरबों को स्पेन से आगे नहीं बढ़ने दिया और वहाँ से भी शीघ्र निकाल दिया। युरोप में तुर्कों की भी यही दशा हुई और यदि इंगलैंड और रूस में प्रतिद्वंद्विता न होती तो तुर्कों का अवशेष भी युरोप में न होता। भारतीय यह भावना खो चुके थे। इसीलिये मध्ययुग में भारत विदेशियों से आक्रांत रहा।

७. राजभक्ति

राष्ट्रीयता और देशभक्ति का स्थान धीरे धीरे राजभक्ति ने ले लिया।

१ अर्थ० २।

२ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेयार्यस्य दासभावः। अर्थ० ३. १३।

परिस्थिति में जिस सामूहिक संगठन और चेतना की आवश्यकता थी उनका भारतीय शूरों और वीरों में अभाव था। यही कारण था कि अपनी अनुपम व्यक्तिगत योग्यता के होते हुए भी वे पराजित हुए। व्यक्तिगत योग्यता की क्या सीमा है और उसका उपयोग कहाँ और कैसे करना चाहिए, ये कम महत्व के प्रश्न नहीं हैं। ऐसा लगता है कि जीवन के इन प्रश्नों पर विचार कम किया गया। यही बात व्यक्तिगत उदारता, दया और करुणा के बारे में भी कही जा सकती है। सामूहिक और राष्ट्रीय जीवन में और विशेषकर शत्रु और विदेशी आक्रमणकारियों के साथ उपर्युक्त व्यक्तिगत गुणों का किस प्रसंग और किस मात्रा में उपयोग करना चाहिए, ये भी विचारणीय प्रश्न थे। किंतु व्यक्तिगत कर्तव्य का समन्वय सामूहिक और राष्ट्रीय कर्तव्य के साथ ठीक तरह से इस युग में नहीं हुआ। इसलिये व्यक्तिगत क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी सामूहिक क्षेत्र में इस युग का व्यक्ति असफल रहा।

६. संघर्ष तथा पुनरुत्थान का प्रयत्न

यद्यपि अपनी आंतरिक दुर्बलताओं से इस युग के अधिकांश भारतीय राज्य विदेशी आक्रमणों के सामने पराजित हुए, तथापि विदेशियों के प्रति प्रतिरोध, संघर्ष और युद्ध कभी समाप्त नहीं हुए और न तो हार कर भी पुनः उठ खड़े होने की प्रवृत्ति ही विलुप्त हुई। भारत ही ऐसा देश था जहाँ इस्लाम को सतत संघर्ष का सामना करना पड़ा और लगभग एक हजार वर्ष के आक्रमण और शासन के बाद भी भारत के विजय और धर्मपरिवर्तन में उसे आंशिक सफलता ही मिली। संसार के इतिहास में यह एक बड़ी महत्व की घटना है। स्पेन के दक्षिणी छोर से लेकर चीन की दीवार तक इस्लाम की जेहादी सेना ने पूर्ववर्ती धर्म और सामाजिक ढाँचे को पूर्णतः नष्ट कर दिया और अब उनका अवशेष केवल भूखनन से ही प्राप्त होता है। पश्चिमोत्तर अफ्रीका, मिस्र, अरब, असीरिया, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया सभी पूर्णतः इस्लाम के सामने परास्त हुए। परंतु भारत में यह घटना नहीं हुई। भारत के सभी राजवंश नष्ट नहीं हुए और राजवंशों के पराजित और नष्ट होने पर भी जनता की अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रति आस्था और आग्रह बना रहा। इनके ऊपर आक्रमण का प्रतिरोध संघर्ष और कष्टसहन के द्वारा जनता करती रही; जहाँ यह संभव नहीं हुआ वहाँ वर्जनशीलता और केवल कष्टसहन का मार्ग उसने ग्रहण किया किंतु अपने सांस्कृतिक जीवन की रक्षा की। केवल थोड़े से लोग दबाव, भय और प्रलोभन से इस्लाम में दीक्षित हुए। राजवंशों की भी प्रायः यही प्रवृत्ति रही। स्थान-परिवर्तन और नवीन राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते हैं। सैनिक पराजय के

बाद अधीनता स्वीकार करके पुनः संघर्ष और राजनीतिक संघटन के भी कतिपय दृष्टांत मिलते हैं[1]।

इस्लाम का पहला आक्रमण भारत पर ७६६ वि० में हुआ। सिंधु के मुहाने से मुल्तान तक पहुँचने में अरब सेना को घोर संघर्ष करना पड़ा। सिंध के चाच वश का पराजय हुआ। किंतु इसके पूर्व में प्रतिहारों की प्रबल शक्ति थी जिसने बड़ी ही जागरूकता और वेग के साथ अरबों का सामना किया और उनको सिंध तक सीमित रखा। काबुल और पंजाब के शाही वंश ने उत्तर से प्रतिरोध किया और अरब ऊपर की ओर न बढ सके। अरबों की शक्ति क्षीण होने पर तुर्कों ने गजनी होकर पश्चिमोत्तर के दर्रों से भारत पर आक्रमण किया। शाही वंश ने तुर्कों का प्रबल विरोध किया और आक्रमण की नई लहरों को रोकने के लिये उत्तरभारत के राज्यों का सैनिक संघ भी बनाया, परंतु जिन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की चर्चा की जा चुकी है उनके कारण सामिक प्रतिरोध भी असफल रहा और तुर्क सत्ता यामिनी वंश के रूप में लाहौर मे स्थापित हो गई। किंतु शीघ्र ही इस बढती हुई शक्ति को रोकने के लिये अजमेर में चाहमान (चौहान) और कान्यकुब्ज (कन्नोज) में गहडवाल वश के रूप में भारतीय शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। इन दो राजवंशो ने दक्षिण और पूर्व से तुर्कों को पंजाब मे घेर रखा। चाहुमान राजा विग्रहराज दिल्ली को अधिकृत कर हिमालय तक पहुँचा और उसने तुर्कों के लिये पूर्व मे अभेद्य दीवार खड़ी कर दी। आगे चलकर इन दो भारतीय शक्तियों ने परस्पर संघर्ष से अपना बल क्षीण कर लिया। गजनी में तुर्कों के ह्रास के बाद गोर के अफगानों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। अजमेर दिल्ली के चाहमान राजा प्रसिद्ध पृथ्वीराज ने पहले बड़ी सफलता के साथ अफगानों को पीछे ढकेला और उनके सरदार शहाबुद्दीन गोरी को कई बार पीछे हटना पड़ा। किंतु पारस्परिक युद्ध और विलासिता के कारण १२५० वि० में भारतीय शक्ति पुनः ध्वस्त हुई। विदेशी आक्रमण का यह वेग पहले से अधिक व्यापक था और १२६३ वि० तक यह बगाल तक फैल गया। परंतु भारतीय प्रतिरोध समाप्त नहीं हुआ। राजस्थान, मध्यभारत तथा विंध्यप्रदेश में स्वतंत्र रूप से और उत्तरप्रदेश मे सामंत रूप से विदेशी सत्ता के साथ बराबर युद्ध चलता रहा और भारत पूर्णरूपेण विदेशियों के संमुख नतमस्तक नहीं हुआ।

[1] वास्तव में संपूर्ण मध्ययुग इस्लाम और भारत के संघर्ष का इतिहास है। समन्वय का आंशिक प्रयत्न अकबर (मुगल सम्राट्) के समय हुआ, किंतु औरंगजेब की कट्टरपंथी नीति ने उसको विकसित नहीं होने दिया।

तृतीय अध्याय

राजनीतिक स्थिति

पूर्व मध्ययुग में उत्तर भारत, जिसके साथ हिंदी भाषा और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है, जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, कई राज्यों में विभक्त था जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जायगा। इनके संबंध में एक विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इन राजवंशों में से अधिकांश को परवर्ती प्रथा के अनुसार 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूतों का उदय भारतीय इतिहास की एक प्रमुख घटना है। इस समय के अधिकांश राजपूत अपना संबंध इसी समय उदित राजवंशों के साथ जोड़ते हैं। इनकी वीरता, बलिदान और पारस्परिक संघर्ष की कहानियों से हिंदी साहित्य का भांडार भरा हुआ है।

१. राजपूतों की उत्पत्ति

सातवीं और आठवीं शती में भारतवर्ष में जीवन के दो मुख्य क्षेत्रों में क्रांति हुई। धार्मिक क्षेत्र में कुमारिल और शंकर ने जो आंदोलन चलाया उससे ह्रासोन्मुख बौद्ध धर्म वैदिक परंपरा में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया गया और प्राचीन धार्मिक संप्रदायों के स्थान में पुनरुत्थानमूलक किंतु नवसंस्कृत हिंदू धर्म का उदय हुआ। मध्ययुगीन धार्मिक जीवन की यह एक बहुत बड़ी संक्रांति थी। राजनीतिक क्षेत्र में हूणों और अरबों के आक्रमण से भारत को बहुत बड़ा मानसिक धक्का लगा। कुमारिल और शंकर की धार्मिक प्रेरणा से राजनीतिक जीवन भी प्रभावित हुआ।[1] राजवंशों में ब्रह्म-क्षत्र की एक नई परंपरा चल पड़ी। प्राचीन भारतीय राजवंशों के अवशेषों में एक बार पुनः नया प्राण आ गया। उन्होंने राजस्थान, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, विंध्यप्रदेश आदि प्रांतों में अपने देश और धर्म की रक्षा के लिये शैव धर्म को अपनाया और सतत युद्ध द्वारा विदेशी सत्ता के विरोध का प्रण किया। कुषण साम्राज्य को नष्ट करने और भारतीय राष्ट्र के पुनरुत्थान का व्रत इसी प्रकार तीसरी शती में नाग-भारशिवों ने लिया था।[2]

१ संसार के इतिहास में प्रायः राजनीतिक क्रांति और उत्थान के पूर्व बौद्धिक और सांस्कृतिक क्रांति पाई जाती है। मध्ययुग में राजपूतों का उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। कुमारिल का यज्ञ द्वारा स्वर्गविजय और शंकर का मुक्तिसंदेश दोनों ने देश की महत्वाकांक्षा और स्वतंत्रता की भावना को बढ़ाया।

२ देखिए—काशीप्रसाद जायसवाल : हिस्ट्री आफ् इंडिया, पृ० ५-६१।

प्राचीन क्षत्रियों के नवजागरण का काव्यमय वर्णन चंद के 'पृथ्वीराजरासो' में संक्षेपतः इस प्रकार मिलता है : जब पृथ्वी राक्षसों और म्लेच्छों से त्रस्त थी तब वशिष्ठ ने अर्बुद पर्वत पर अपने यज्ञकुंड से चार योद्धाओं को उत्पन्न किया— परमार, चालुक्य, परिहार और चाहुमान[१]। इन्हीं से चार राजवंशों की स्थापना हुई जो अग्निकुलीय कहलाए। यह कथा पीछे बहुत प्रचलित हुई। कई ऐतिहासिकों ने इस कथा की विचित्र व्याख्या की। टाड ने इस उत्पत्ति कथा को स्वीकार कर यह मत प्रतिपादित किया कि ये नवजागृत राजपूत विदेशी आक्रमणकारियों के वंशज थे जो यज्ञ द्वारा शुद्ध होकर हिंदू समाज में संमिलित हुए[२]। पीछे स्मिथ तथा बहुत से भारतीय ऐतिहासिकों ने इसे पकड़ लिया[३]। एक तो यह कथा बारहवीं शती की है और दूसरे उपर्युक्त सभी राजवंश अपने उत्कीर्ण लेखों में अपनी उत्पत्ति प्राचीन सूर्य अथवा चंद्रवंश से मानते हैं। यह संभव है कि विदेशी आक्रमणकारियों के वंशजों में से राजकुलीय या अभिजात अंश प्राचीन क्षत्रियों के साथ मिल गया हो। परंतु अधिकांश और मुख्य राजपूत राजवंश प्राचीन क्षत्रियों के वंशज थे, इसमें संदेह नहीं।

२. विविध राज्य

(१) सिंध—हिंदी के प्रमुख क्षेत्र के पश्चिमोत्तर में सबसे सुदूर और सीमांत राज्य सिंध का था। प्राचीन सिंधु-सौवीर का दक्षिण भाग इस नाम से मध्ययुग में प्रसिद्ध था। पूर्व मध्ययुग के प्रारंभ में पुष्यभूति वंश के सम्राट् हर्षवर्धन ने अपने दिग्विजय के समय सिंधु को अपने वश में किया[४], किंतु राजवंश का उच्छेद नहीं किया। हर्ष के समकालीन चीनी यात्री हुयेनसंग ने सिंध का भ्रमण किया था। उसके अनुसार यहाँ का राजा शूद्रवंश का था[५]। संभवतः बौद्ध होने के कारण सिंध के राजवंश को शूद्र कहा गया है। इस वंश की उपाधि 'राय' थी। इसकी राजधानी अलोर थी। अरबी लेखकों के अनुसार इस वंश के अंतिम राजा को उसके ब्राह्मण मंत्री चच ने मारकर राज्य पर अधिकार कर लिया[६]। चच ने बड़ी सफलता के साथ

[१] पृथ्वीराजरासो (ना० प्र० सभा, काशी)।

[२] दि ऐनल्स आव् राजस्थान।
इसके संपादक विलियम क्रुक ने अपनी भूमिका (पृ० ३१) में इस मत की पुष्टि की है।

[३] वी० ए० स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ् इंडिया, तृ० सं०, पृ० ३२२।

[४] डा० द० रा० भंडारकर : फारेन एलिमेंट्स इन इंडियन पापुलेशन, इंडि० एंटि०, ४१।
'अत्र पुरुषोत्तमेन सिंधुराज्यं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता।', हर्ष०, पृ० १३६।

[५] वैटर्स २. २५२।

[६] चचनामा।

चालीस वर्ष तक राज्य किया और सिंध राज्य की सीमा कश्मीर तक विस्तृत की। चच के बाद उसका भाई चंद्र और तत्पश्चात् उसका पुत्र दाहिर सिंहासन पर बैठा। इसी के राज्यकाल ७६६ वि० में अरब विजेता मुहम्मद इब्न कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया। दाहिर ने अरब आक्रमणकारियों का दृढ़ता से सामना किया, किंतु राज्य में आंतरिक विद्वेष और जनता की अकर्मण्य और दुर्बल नीति के कारण पराजित हुआ। देबुल और बह्मनाबाद (ब्राह्मणावास) को जीतते हुए मुहम्मद ने मुलतान तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। अरबों का उत्तर में संघर्ष काबुल और पंजाब के शाही वंश और पूर्व में प्रतिहारों से था। इन दो भारतीय राज्यों ने अरबों को सिंध में घेर रखा था, यद्यपि वे उनको खदेड़ न सके। अवंती और कान्यकुब्ज के प्रतिहारों की दक्षिण में मान्यखेत के राष्ट्रकूटों से शत्रुता थी। अतः अरबों और राष्ट्रकूटों में मैत्री का संबंध स्थापित हो गया। मध्ययुगीन राज्यों की अराष्ट्रीय और देशद्रोही नीति का यह एक ज्वलंत उदाहरण था। राजनीतिक विरोध होते हुए भी अरबों ने भारत से गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि शास्त्र सीखा। इसी समय पंचतंत्र का भी अरबी में भाषांतर हुआ। भारतीय भाषाओं में भी संपर्क से अरबी के शब्द आने लगे और भारत का अरबी साहित्य से परिचय हुआ। गजनी में तुर्कों के उदय से सिंध का अरब राज्य महमूद गजनवी द्वारा ध्वस्त हुआ। महमूद की मृत्यु के बाद सिंध पर एक बार पुनः हिंदू राज्य स्थापित हुआ। सुम्रा और सम्मा वंशों ने चौदहवीं शती के मध्य तक राज्य किया और फिर सिंध मुसलमानों द्वारा विजित हुआ।

(२) काबुल और पंजाब—सिंध के ऊपर काबुल और पंजाब में शाही वंश का राज्य था। चौथी शती के समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभवाले लेख में पश्चिमोत्तर सीमांत में शाहानुशाही शकमुरुंडों का उल्लेख है[1] जो कुषणों (ऋषिक-तुषार) के अवशेष थे। संभवतः इन्हीं के वंशज शाही वंशवाले थे। अरब लेखक अलबरुनी इनको हिंदू तुर्क कहता है, जिससे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। शाही पूर्णतः हिंदू हो गए थे और वर्णतः क्षत्रिय माने जाते थे। इन शाहियों ने सातवीं से नवीं शती तक अरबों का सामना किया। इस वंश का अंतिम राजा लगतूर्मान् था। इसको गद्दी से हटाकर इसके ब्राह्मण मंत्री कल्लर ने ब्राह्मण शाही वंश की स्थापना की[2]। इस वंश में अलबरुनी के अनुसार क्रमशः सामंद (सामंत), कमलू, भीम, जयपाल, आनंदपाल, त्रिलोचनपाल और भीमपाल नामक राजाओं ने राज्य किया। राजतरंगिणी में एक लल्लिय नामक राजा का भी उल्लेख है जो संभवतः कल्लर का ही रूपांतर है। इसने

१ फ्लीट : गुप्त अभि०, सं० ३।
२ अलबरुनी का भारत (सखाउ), भा० २, पृ० १३।

कश्मीर के राजा शंकरवर्मन् के विरुद्ध गुर्जरों की सहायता की थी। शाहियों के सबसे बड़े शत्रु तुर्क थे। जब याकूब ने ८७०-७१ वि० में काबुल पर आक्रमण किया तब सामंत ने अपनी राजधानी उद्भाडपुर को बनाया। श्रीसामंतदेव के सिक्के काबुल और पंजाब में प्रचुर मात्रा में पाए गए थे। कश्मीर की प्रसिद्ध रानी दिद्दा भीम की लड़की की लड़की थी। कश्मीर के क्षेमगुप्त के समय में भीम का प्रभाव कश्मीर में स्पष्ट मालूम होता है, क्योंकि उसी के नाम से वहाँ भीमकेशव नामक शिवमंदिर बना।

पश्चिमोत्तर में तुर्कों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। जयपाल को विवश होकर अपनी राजधानी पटियाला राज्य में भटिंडा (भटनगर) में हटानी पड़ी। जयपाल ने काबुल को वापस लेने के लिये तुर्कों पर आक्रमण किया परंतु असफल होकर सुबुक्तगीन द्वारा बंदी बना दिया गया और उसे हीन संधि करनी पड़ी[1]। भटिंडा लौटने पर उसने संधि की अवहेलना की और कर देना बंद कर दिया। इस कारण सुबुक्तगीन ने पंजाब पर आक्रमण किया। तुर्कों का प्रतिरोध करने के लिये जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कालंजर और कन्नौज के राज्यों को निमंत्रण देकर एक विशाल सैनिक संघ की स्थापना की और जलालाबाद के लमगान नामक स्थान पर सुबुक्तगीन का सामना किया[2]। संख्या अधिक होने पर भी आंतरिक संगठन तथा अनुशासन की एकसूत्रता के अभाव में संघ पराजित हुआ और जयपाल को हारना पड़ा। दूसरी बार वह १००१ ई० में सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद से पराजित हुआ। अत्यंत ग्लानि के कारण उसने जीते जी अपना राज्य अपने पुत्र आनंदपाल को सौंप दिया और स्वयं चिता पर जलकर मर गया। महमूद ने १०६५ वि० में पुनः भारत पर आक्रमण किया। आनंदपाल ने अपने पिता की भाँति हिंदू राज्यों का सैनिक संघ बनाया, किंतु उन्हीं कारणों से पराजित हुआ जिनसे उसका पिता हारा था। आनंदपाल के पुत्र त्रिलोचनपाल के समय (१०७२ वि०) में महमूद ने फिर पंजाब पर आक्रमण किया। उसने हिंदू राजाओं से सहायता माँगी, किंतु पर्याप्त सहायता नहीं मिली। वह लड़ता हुआ युद्ध में मारा गया और यही दशा उसके पुत्र और शाही वंश के अंतिम राजा भीमपाल की हुई। बर्बर, धर्मांध और दुर्धर्ष किंतु संगठित तुर्कों के सामने नम्रता और विलासिता के नाम से दबे और भीतर से विशृंखलित हिंदू पराजित हुए।

(३) कश्मीर—भाषा, लिपि, साहित्य एवं आदि सभी दृष्टियों से कश्मीर उत्तर-भारत का अभिन्न अंग है, फिर भी राजनीतिक दृष्टि से पश्चिमोत्तर कोने में पड़ता है

[1] इलियट [illegible] इंडिया, भा० [illegible], पृ० [illegible]।
[2] [illegible], भा० [illegible], पृ० [illegible]।

और इतिहास के कतिपय कालों में उत्तरभारत की मुख्य राजनीतिक धारा से अलग रहा है। परंतु मध्ययुग के प्रारंभ में कश्मीर की राजनीतिक शक्ति प्रबल थी और तत्कालीन राजनीति में उसने भाग भी लिया। कल्हण की राजतरंगिणी और नीलमतपुराण में कश्मीर का जो इतिहास वर्णित है उसके अनुसार गोनंद, कर्कोटक, उत्पल, गुप्त और लोहर वंशों ने क्रमशः कश्मीर में शासन किया। कश्मीर का मध्ययुगीन इतिहास कर्कोटक (= नाग) वंश से प्रारंभ होता है। इस वंश का प्रथम राजा दुर्लभवर्धन हर्ष का समकालीन था और उसने उसको भगवान् बुद्ध का दाँत भेंट किया था। इसी की राजसभा में चीनी यात्री हुयेनसंग पहुँचा था। दुर्लभवर्धन के विजयों से कश्मीर का आधिपत्य सिंहपुर, उरशा (हजारा), पुंछ और राजपुर (राजौर) पर स्थापित हो गया।

आठवीं शती में चीन का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था और कश्मीर भी इससे प्रभावित था। ७७७ वि० में कर्कोटक वंश के राजा चंद्रापीड का अभिषेक चीनी सम्राट् ने कराया था। इसके पश्चात् ललितादित्य मुक्तापीड (७८१–८१७ वि०) कश्मीर का राजा हुआ। इसके दिग्विजयों का विस्तृत वर्णन राजतरंगिणी में पाया जाता है। पंजाब होता हुआ कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मन् को इसने पराजित किया। पश्चिमोत्तर में इसकी अश्ववाहिनी ने वंक्षु नदी के तीर (पामीर) स्थित केसर के खेतों को रौंदा। कश्मीर के उत्तर दरदिस्तान और पूर्व में तिब्बत को जीतता हुआ बंगाल पहुँचा और गौडाधिपति को पराजित किया। कश्मीर से उसने चीनी प्रभाव को हटाया और उससे बराबरी का दौत्यसंबंध स्थापित किया। उसके समय में धर्म और कला को बहुत प्रश्रय मिला। हुष्कपुर और दूसरे स्थानों में उसने अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण कराया। भूतेश का शैवमंदिर, परिहास-केशव का वैष्णवमंदिर और मार्तंड का सौरमंदिर उसके धर्म और कलाप्रेम के नमूने हैं। ललितादित्य का पौत्र विनयादित्य जयापीड भी विजेता और पराक्रमी था। उसकी सभा में उद्भट, वामन और कुट्टनीमत के रचयिता दामोदरगुप्त आश्रय पाते थे।

नवीं शती में कश्मीर का राज्य कर्कोट वंश के हाथ से निकलकर उत्पल वंश के हाथ में आया। इस वंश का प्रथम राजा अवंतिवर्मा ९१२ वि० सिंहासन पर बैठा उसने अत्याचारी डामरों (जमीदारों) से प्रजा की रक्षा की और अपने सुयोग्य मंत्री सूय्य (सूर्य) की सहायता से नहरें निकालकर कृषि का विकास किया। उसकी सभा में ध्वन्यालोक के रचयिता आनंदवर्धन संमानित थे। अवंतिवर्मा का पुत्र शंकरवर्मा युद्धप्रिय था और उसने अपनी सारी समृद्धि लड़ाइयों में व्यय कर दी। देश पुनः दरिद्र हो गया। इसके बाद कश्मीर का इतिहास शोषण, अत्याचार और दरिद्रता का इतिहास है। इस वंश का अंतिम राजा सूरवर्मन था जिसको सिंहासन

से हटाकर ब्राह्मणों ने गुप्तवंशी **प्रभाकरदेव** को राजा बनाया। उसका पुत्र यशस्कर बड़ा योग्य था और देश की अवस्था का उसने सुधार किया। उसका पुत्र अपने मंत्री पर्वगुप्त द्वारा मार डाला गया जो स्वयं राजा बन बैठा। इस कुल में क्षेमगुप्त नामक राजा था जिसको **दिद्दा** नाम की रानी हुई। उसने पचास वर्षों तक बड़े ठाटबाट और कड़ाई के साथ शासन किया। परंतु उसका राज्यकाल भ्रष्टाचार और अत्याचार का युग था। अपने प्रेमपात्र तुंग नामक खस की सहायता से वह शासन करती रही। वह पुंछ के लोहर राजा सिंहराज की पुत्री और शाही राजा भीम की नतिनी थी। दिद्दा ने अपने जीते जी कश्मीर का राज्य अपने भाई **संग्रामराज लोहर** को सौंप दिया।

लोहरवंशी **संग्रामराज** १०६० वि० में सिंहासन पर बैठा। उसके समय में भी तुंग का प्रभाव बना रहा। तुर्कों के विरुद्ध शाही राजा त्रिलोचनपाल ने जो सैनिक संघ बनाया था उसमें तुंग संमिलित हुआ था। इसी वंश में ११४६ वि० में हर्ष नामक राजा हुआ। प्रारंभ में वह सैनिक योग्यता, सुशासन तथा धर्म और कला के प्रश्रय के लिये प्रसिद्ध था, परंतु पीछे लोभी और व्यभिचारी हो गया। देश-घाती नीति द्वारा उसने तुर्कों को शासन में स्थान देना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कश्मीर में क्रमशः तुर्कों का प्रभाव बढ़ने लगा और १३६६ वि० में एक तुर्क सेनापति शम्सुद्दीन ने कश्मीर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। तुर्कशासन के प्रारंभिक काल में कश्मीर के शासन और साहित्य की भाषा संस्कृत बनी रही और लोकभाषा कश्मीरी का भी विकास नहीं रुका। परंतु धीरे धीरे यह स्थिति बदलने लगी और क्रमशः इस्लामी प्रभाव के कारण फारसी और अरबी का रंग वहाँ जमने लगा[१]।

(४) कान्यकुब्ज—

(क) **यशोवर्मन** : पुष्यभूति वंश के सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु (ल० ७०७ वि०) के बाद कान्यकुब्ज (कन्नौज) का साम्राज्य छिन्नभिन्न होने लगा और हर्ष के परवर्ती पचास वर्षों का इतिहास बिलकुल अंधकारमय है। आठवीं शती के अंतिम पाद में यशोवर्मन नामक राजा सहसा राजनीतिक आकाश में चमक उठा[२]। वर्मन नामांत से अनुमान किया जाता है कि वह **मौखरी वंश** का था। गौडवहो (गौडवध) नामक प्राकृत काव्य से मालूम होता है कि उसने मगध, वंग, श्रीकंठ (पूर्वी पंजाब) आदि को जीता था और उसकी दिग्विजयिनी

[१] राजतरंगिणी पर आधारित।

[२] वाक्पति : गौडवहो।

सेना देश के बड़े भूभाग पर घूम आई थी। नालंदा में प्राप्त उसके उत्कीर्ण लेख से उसके विजय और शासन के संबंध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है[1]। विजेता होने के साथ साथ वह विद्या और कला का आश्रयदाता भी था। उसकी राजसभा में उत्तररामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव नामक नाटकों के रचयिता **भवभूति** और गौडवहो के रचयिता **वाक्पतिराज** आदि कवि रहते थे। यशोवर्मन कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड का समकालीन था। कश्मीर और कान्यकुब्ज की सीमाएँ मिलती थीं। अतः दोनों में संघर्ष हुआ और यशोवर्मन पराजित हुआ। परंतु दोनों ने मिलकर काफी दिनों तक प्रसारवादी चीनी साम्राज्य से भारत की उत्तरी सीमा की रक्षा की थी। यशोवर्मन की मृत्यु लगभग ८०६ वि० में हुई। उसके नाममात्र के तीनों उत्तराधिकारियों के संबंध में कुछ भी महत्व की बात मालूम नहीं।

(ख) आयुध वंश : यशोवर्मन के कुल के बाद आयुध नामांत तीन—**वज्रायुध, इंद्रायुध और चक्रायुध**–राजाओं ने कान्यकुब्ज में शासन किया। इस समय उत्तरभारत की राजनीतिक शक्ति क्षीण हो गई थी। मालव के गुर्जर प्रतिहार, दक्षिण के राष्ट्रकूट और बंगाल के पाल शक्तियों ने उत्तरापथ पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये कड़ी प्रतियोगिता की। पहले राष्ट्रकूटों और फिर पालों का प्रभाव कान्यकुब्ज के ऊपर बढ़ा किंतु अंत में गुर्जर प्रतिहार राजा द्वितीय नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अपना अधिकार जमा लिया[2]। परंतु इससे संघर्ष का अंत नहीं हुआ। प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पालों का त्रिभुजात्मक युद्ध आगे भी चलता रहा। पालों ने पूर्व में प्रतिहारों को काफी फँसा रखा और राष्ट्रकूटों ने न केवल उनकी शक्ति को अपने युद्धों से कम किया परंतु उनके विरुद्ध अरबों की भी सहायता की।

(ग) प्रतिहार वंश : द्वितीय नागभट्ट ने जिस वंश की स्थापना कान्यकुब्ज में की वह गुर्जर प्रतिहार वंश था। इस वंश का उदय पहले गुर्जरत्रा (=दक्षिण-पश्चिम राजस्थान) में हुआ था, अतः यह गुर्जर प्रतिहार कहलाया। छठी शती के प्रारंभ में एक महत्वाकांक्षी ब्राह्मण **हरिश्चंद्र** ने प्रतिहारवंशी क्षत्रिय कन्या **भद्रा** से विवाह किया। उस समय की धर्मशास्त्र-व्यवस्था के अनुसार संतान मातृवर्ण की होती थी। इसलिये भद्रा के पुत्रों द्वारा प्रतिहार राजवंश की परंपरा चली[3]। इस वंश ने उत्तर मांडव्यपुर पर अधिकार जमाकर एक ओर पुष्यभूतिवंश के प्रसार को रोका और दक्षिण-पूर्व में पूरे आधुनिक गुजरात, लाट और मालव पर

१ एपि० इंडि०, जि० २०।

२ वही, जि० १८, पृ० २४५-५३, श्लोक २३।

३ बाउक की जोधपुर-प्रशस्ति, एपि० इंडि०, जि० १८, लेख १२।

आधिपत्य स्थापित किया। मालव में इसी वंश का वत्सराज नामक प्रसिद्ध राजा हुआ[१]। प्रतिहारों ने पश्चिम में अरबों को सिंध के भीतर ही सीमित रखा और उनसे देश और धर्म की रक्षा करके प्रतिहार (ड्योढ़ीदार) नाम सार्थक किया। इसके बाद प्रतिहारों ने मध्यप्रदेश की राजनीति में भाग लेना शुरू किया। इसी वंश के राजा द्वितीय नागभट्ट ने आठवीं शती वि० के मध्य में आयुध वंश के अंतिम राजा चक्रायुध के समय में कान्यकुब्ज (महोदयश्री) को अपने अधिकार में कर लिया और उत्तरभारत का सम्राट् बन बैठा। उसके ग्वालियर अभिलेख से यह जान पड़ता है कि उसने काठियावाड़, पश्चिमी मालवा, कौशाम्बी और हिमालय प्रदेश के किरातों को जीता और सिंध में अरबों को परास्त किया[२]।

नागभट्ट का पुत्र रामभद्र हुआ। यह बहुत ही सज्जन किंतु दुर्बल था और इसके समय में प्रतिहार साम्राज्य के कई प्रदेश स्वतंत्र हो गए। इसका पुत्र मिहिर-भोज अत्यंत विजयी और प्रतापी हुआ[३]। उसने पुनः संपूर्ण मध्यदेश, मालवा, गुजरात्रा, सौराष्ट्र, चेदि आदि पर अधिकार किया। इसके समय में एक बार फिर प्रतिहारों का बंगाल के पालवंश (देवपाल) तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश (द्वितीय कृष्ण) से पारस्परिक शक्ति की परीक्षा के लिये युद्ध हुआ। कई जय-पराजय के बाद भी भोज ने अपना साम्राज्य अक्षुण्ण रखा और बड़ी सफलता से शासन किया। ९०८ वि० में अरब यात्री सुलेमान उसके राज्य की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि उसका राज्य बहुत ही सुरक्षित और चोर डाकुओं से मुक्त था। वह उसकी समृद्धि का वर्णन करता है और लिखता है कि प्रतिहार इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु थे[४]। भोज ९४२ वि० तक शासन करता रहा। इसके बाद उसका पुत्र प्रथम महेंद्रपाल (निर्भयराज) सिंहासन पर बैठा। वह अपने पिता के समान ही विजयी तथा प्रतापी था। गौड़ों से मगध और उत्तरी बंगाल उसने छीन लिया। सौराष्ट्र से उत्तरी बंगाल तक उसका साम्राज्य सुरक्षित था। केवल पश्चिमोत्तर में कश्मीर से संघर्ष के कारण भोज के जीते हुए टक्कि कुल के कुछ प्रदेश निकल गए। महेंद्रपाल कवियों और साहित्यकारों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध कवि, नाटककार और काव्यमीमांसा के रचयिता राजशेखर उसकी राजसभा में रहते थे

[१] जैन हरिवंश, सं० १, भा० २, पृ० १८३।

[२] मिहिरभोज की ग्वालियरप्रशस्ति, एपि० इंडि०, जि० १८, पृ० १०८, ११२, श्लोक ११।

[३] एपि० इंडि०, जि० १९, पृ० १७-१९।

[४] इलियट : हिस्ट्री आफ इंडिया, जि० १, पृ० ४।

राष्ट्रकूटवंशी गोपाल ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया था। चंद्रदेव ने गोपाल को पराजित कर कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया और अपने राज्य को इंद्रप्रस्थ (दिल्ली) से भी आगे बढाया[1]। अपने अभिलेख में वह सम्राट् के विरुद से अलंकृत है और काशी, साकेत (अयोध्या), कान्यकुब्ज और इद्रस्थान (दिल्ली) का त्राता कहा गया है[2]। उसने पूर्व मे पालो और पश्चिम मे तुर्कों को उत्तरभारत में बढने से रोका। इस समय तुर्कों से भारत का सरक्षण ही सबसे बड़ा काम था। लगभग ११५७ वि० मे चंद्रदेव का पुत्र मदनपाल गद्दी पर बैठा। उसके समय में कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं हुई। परंतु वह विद्या और कला का प्रश्रयदाता था। उसने स्वय वैद्यक शास्त्र पर मदननिघंटु नामक ग्रथ लिखा।

मदनपाल का पुत्र गोविंदचंद्र इस वश का सर्वप्रसिद्ध राजा हुआ। युवराजावस्था से ही इसकी प्रतिभा का परिचय मिल गया था। इसने गजनी के सुलतान मसूर (तृतीय) के सेनापति तुगातिग्नि को पंजाब में ही पराजित कर तुर्कों से उत्तरभारत की रक्षा की। वह बड़ा ही योग्य शासक और विजेता था। उसकी बौद्ध रानी कुमारदेवी के सारनाथ-अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसका वैवाहिक तथा राजनीतिक संबंध अग, बगाल तथा आध्र आदि दूर दक्षिण के प्रदेशों से भी था, वह तुर्कों से भारत के पवित्र तीर्थों की रक्षा करने के लिये 'शिव का विष्णु अवतार माना जाता था[3]। उसके समय में विद्या और कला को बड़ा प्रोत्साहन मिला। गोविंदचद्र का साधिविग्रहिक (सधि और विग्रह से सबध रखनेवाला परराष्ट्र-विभाग मत्री) लक्ष्मीधर था। उसने कृत्यकल्पतरु नामक एक बृहत् ग्रथ की रचना की। उसके एक खड व्यवहार कल्पतरु से तत्कालीन न्यायव्यवस्था का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। गोविंदचद्र का पुत्र विजयचद्र ११११ वि० के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। उसने अपने साम्राज्य और तुर्कविरोधी नीति की रक्षा की। लाहौर के खुसरो मलिक अथवा उसके पुत्र के नेतृत्व में बढती हुई तुर्क सेना को उसने पराजित कर पश्चिम में ही रोका[4]। पृथ्वीराजरासो में उसकी विजयी का कियदंश में कल्पित तथा अतिरंजित वर्णन है जिसपर विश्वास करना कठिन है। जान पड़ता है कि इसी समय गहडवालों और चाहुमानों में परस्पर युद्ध प्रारंभ हुआ। चाहुमान राजा विग्रहराज बीसलदेव

[1] गाधिपुराधिप गोपाल का सहेत महेत अभिलेख, इंडि० ऐंटि०, जिल्द १७, पृ० ६१-६४, वही, जि० २४, पृ० १७६।

[2] इंडि० ऐंटि०, जि० १५, पृ० ७-८।

[3] एपि० इंडि० जि० ६, पृ० ३११।

[4] भुवनदलन हेला हर्म्य हम्मीर नारीनयनजलदधारा धौत भूलोक ताप। इंडि० ऐंटि०, जि० १५, पृ० ७, ६, श्लोक ६।

के दिल्ली अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने गहड़वालों से इंद्रस्थान (दिल्ली) छीन लिया और उत्तर में हिमालय तक अपना राज्य फैलाया[1]।

विजयचंद्र का पुत्र जयचंद्र भी बड़ा योग्य और विजेता था। पृथ्वीराजरासो में उसके विजयों और राजसूय यज्ञ का वर्णन मिलता है। इसमें अतिरंजन और कई ऐतिहासिक भूलें हैं किंतु इसको बिल्कुल निराधार नहीं कहा जा सकता। इसके पास विशाल सेना थी जिसके कारण इसकी उपाधि 'दलपंगु' थी। वह बहुत बड़ा दानी और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। उसकी राजसभा में संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष रहते थे जिन्होंने नैषधचरित नामक महाकाव्य तथा 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक दार्शनिक ग्रंथ की रचना की। उसके आश्रित चंदबरदाई नामक कवि द्वारा विरचित पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता अभी तक विवादग्रस्त है किंतु उसकी मूल ऐतिहासिक कथा को निर्मूल नहीं सिद्ध किया जा सकता। जयचंद्र के अश्वमेध यज्ञ और संयुक्ताहरण में कितना ऐतिहासिक सत्य है, कहा नहीं जा सकता। किंतु इतना तो अवश्य सत्य है कि गहडवालों तथा चाहमानों में घोर संघर्ष था और पश्चिमोत्तर से आनेवाली मुसलमानों की सैनिक आँधी को भी देखकर यह कम नहीं हुआ। जयचंद्र ने शहाबुद्दीन गोरी को भारत पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। परंतु यह सच है कि मुसलमानों के विरुद्ध उसने पृथ्वीराज की सहायता नहीं की। १२५० वि० में पृथ्वीराज चाहमान को पराजित कर १२५१ वि० में शहाबुद्दीन गोरी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया। यदि जयचंद्र ने पृथ्वीराज की सहायता की होती तो संभवतः यह आक्रमण नहीं होता। जयचंद्र ने चंदवा और इटावा के रणक्षेत्रों में शहाबुद्दीन का सामना वीरता से किया परंतु अंत में पराजित हो मारा गया। अफगान-तुर्क सेना ने महोदयश्री कान्यकुब्ज का घोर विध्वंस किया। शहाबुद्दीन ने जयचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र को कन्नौज का राजा बनाया किंतु कुछ समय के बाद कान्यकुब्ज में गहडवालों का अंत हो गया। उत्तरापथ की राजधानी तुर्कों के हाथ में चली गई—क्षत, विक्षत और विध्वस्त।

(५) **उज्जयिनी का परमार वंश** : दशवीं शती के पूर्वार्ध में जब प्रतिहारों की शक्ति शिथिल होने लगी, मालवा में परमार वंश का उदय हुआ। प्रतिहारों की तरह परमारों की गणना भी अग्निकुल में की गई है। हरसोला में प्राप्त अभिलेख के आधार पर कुछ विद्वान् परमारों को राष्ट्रकूट वंश का मानते हैं।[2] मालवा की

१ अभिलेख : ज० ए० सो० बं०, १८८६, जि० ५५, भा० १, पृ० ४२, श्लोक २२।
२ हरसोला (अहमदाबाद) अभिलेख, एपि० इंडि०, जि० १६, पृ० २३६-४४।

परंपरा में परमार विक्रमादित्य (मालव) के वंशज माने जाते हैं। उत्पत्ति चाहे जो हो, परमार वंश पहले प्रतिहारों का सामंत था जो अवसर पाकर स्वतंत्र हो गया। अन्य समकालीन राजवंशों की तरह वह तुरुष्कों (तुर्कों) से देश और धर्म की रक्षा करने के लिये कटिबद्ध था। सीयक हर्ष ने १००७ वि० के लगभग परमार वंश की स्थापना की। इसने ह्रासोन्मुख प्रतिहार साम्राज्य के मालवा प्रांत को अपने अधीन किया और दक्षिण में राष्ट्रकूटों से युद्ध कर उन्हें दबा रखा। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने खोट्टिग (राष्ट्रकूट) की लक्ष्मी का अपहरण किया था।[1] उसने राजस्थान के हूणवंश को भी पराजित किया। लगभग १०२६ वि० में इसका देहांत हुआ। उसके बाद उसका पुत्र वाक्पति मुंज सिंहासन पर बैठा। वह प्रसिद्ध विजेता और विद्वान् था। उदयपुर-प्रशस्ति के अनुसार उसने लाट, कर्णाट, चोल तथा केरल पर विजय प्राप्त किया।[2] त्रिपुरी के राजा द्वितीय युवराज को हराया और कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप को कई बार परास्त किया। अंतिम बार तैलप के साथ युद्ध में हारकर बंदी हुआ। साहित्यिक परंपरा के अनुसार कारागृह में रहते हुए तैलप की बहन से उसका प्रेमसंबंध हो गया और निकल भागने के प्रयत्न में मारा गया[3]। मुंज ने कई सुंदर भवनों और सागरों (झीलों) का निर्माण कराया। माडों में आज भी उसकी कृतियों के अवशेष हैं। उसके आश्रय में नवसाहसांकचरित के रचयिता पद्मगुप्त, दशरूपक के रचयिता धनंजय, दशरूपावलोक के लेखक धनिक, अभिधान-रत्नमाला तथा मृतसंजीवनी के लेखक भट्ट हलायुध रहते थे। मुंज के पश्चात् उसका भाई सिंधुल (सिंधुराज) उज्जयिनी की गद्दी पर बैठा। इसका विरुद नवसाहसांक था। इसी को लेकर पद्मगुप्त ने नवसाहसांकचरित की रचना की। इसके अनुसार सिंधुराज ने हूणों, चेदियों, चालुक्यों (लाट और कल्याणी) को परास्त किया। सिंधुराज का शासन-काल बहुत ही संक्षिप्त था।

परमार वंश का सबसे बड़ा विजेता, शक्तिशाली और यशस्वी राजा भोज हुआ। यह सिंधुराज का पुत्र था और उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठा। मेरुतुंगरचित प्रबंधचिंतामणि के अनुसार मुंज के बाद ही भोज सिंहासनारूढ़ हुआ। परंतु अभिलेखों तथा नवसाहसांकचरित का साक्ष्य इसके विरुद्ध है। उसके विजयों की लंबी कथा है। उसने गद्दी पर बैठते ही कल्याणी के चालुक्यों पर आक्रमण कर मुंज की मृत्यु का बदला लिया। उसने चालुक्य राजा पंचम विक्रमादित्य को पराजित कर मार डाला। इससे चालुक्य नष्ट हुए किंतु दक्षिणापथ

[1] एपि० इंडि०, जि०१, पृ० २३५, २३७, श्लोक २२।
[2] वही पृ० २३६।
[3] मेरुतुंग : प्रबंधचिंतामणि।

उसके अधिकार में नहीं आया। उदयपुर प्रशस्ति में उसके विजयों का विस्तृत वर्णन है। उसमें लिखा है कि कैलास (हिमालय) और मलय के बीच की 'संपूर्ण भूमि उसके साम्राज्य में थी'[1]। उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और उसकी सेना काशी, पश्चिमी बिहार होते हुए तीरभुक्ति (तिरहुत) तक पहुँची। उत्तरभारत के तुरुष्कों (= अरबों) तथा कन्नौज के अधिपति और लाहौर के तुरुष्कों को भी उसने परास्त किया। चंदेलों, कच्छपघातों, सोलंकियों, चेदियों से उसके कई सफल युद्ध हुए, यद्यपि चालुक्यों तथा सोलंकियों के हाथ एक बार वह स्वयं भी परास्त हुआ। उसके विजयों का आतंक सारे भारत पर छाया हुआ था और वह सार्वभौम कहलाता था। इसी युद्धचक्र में वह स्वयं फँस गया और मारा गया। एक बार जब वह निश्चित अपनी राजधानी धारा में पड़ा हुआ था उसके सहज शत्रु अन्हिलवाड़ के भीम (प्रथम) तथा त्रिपुरी के लक्ष्मीकर्ण ने एक साथ ही उसपर आक्रमण किया। भोज पराजित हुआ और मारा गया। धारा ध्वस्त और श्रीहत हुई।

भोज स्वयं प्रकांड विद्वान् और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। वह कविराज पदवी से विभूषित था। उसने साहित्य, अलंकार, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे। इसमें सरस्वतीकंठाभरण, शृंगारतिलक, शब्दानुशासन, समरांगणसूत्रधार, व्यवहारसमुच्चय, युक्तिकल्पतरु, आयुर्वेदसर्वस्व, राममृगांक आदि प्रसिद्ध हैं। धारानगरी में भोज ने भोजशाला नामक एक विशाल महाविद्यालय की स्थपना की थी जिसकी दीवालों पर संस्कृत के ग्रंथ अंकित थे। आज इसके स्थान पर मालवा के खिल्जी सुल्तानों द्वारा निर्मित मसजिद खड़ी है। भोज के राज्यकाल में संस्कृत का बहुत प्रचार हुआ। कथाओं के अनुसार जुलाहे आदि सामान्य व्यवसाय के लोग भी संस्कृत बोल सकते थे[2]। भोज के मारे जाने पर यह कहा गया—

'अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती।
पंडिता खंडिता सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥[3]'

भोज भवनों का बहुत बड़ा निर्माता भी था। उसने उज्जयिनी, धारा और भोजपुर को सुंदर भवनों और मंदिरों से सुशोभित किया। उसने भोजसागर नामक

१ एपि० इंडि०, जि० १, पृ० २३७-३८।

२ एक तंतुवाय ने भोज की राजसभा में कहा, 'कवयामि, वयामि, यामि' (मैं कविता करूँ, कपड़े बुनूँ या जाऊँ)।

३ 'आज भोजराज के दिवंगत होने पर धारानगरी आधारहीन, सरस्वती अवलंबरहित और सभी पंडित खंडित हैं।'

बहुत बड़ी झील, सिंचाई, मृगया, तथा जलविहार के लिये बनवाई। पंद्रहवीं शती में माडो के सुल्तान होसंगशाह ने इसे तुड़वा दिया।

भोज के पश्चात् परमार वंश शक्तिहीन तथा श्रीहत हो गया। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर की सहायता से भीम तथा लक्ष्मीकर्ण की सेनाओं को मार भगाया। उसने ११११ वि० से १११७ वि० तक शासन किया। इसके बाद उदयादित्य[1] ने अपने वंश की राजलक्ष्मी के उद्धार का प्रयत्न किया और युद्ध में लक्ष्मीकर्ण को पराजित किया। परंतु अंदर से परमारो की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वे खडे नहीं हो सकते थे। ११४५ वि० में उदयादित्य का देहात हो गया। इसके बाद इस वंश में कई दुर्बल शासक हुए। १३६२ वि० में अलाउद्दीन के सेनापति ने मालवा जीत लिया और परमार वंश का अंत हो गया।

(६) त्रिपुरी का कलचुरी वंश—इस वंश के अभिलेखों में कलचुरी राजाओ को हैहयवंशी कहा गया है। प्राचीन काल में इसी प्रदेश के आसपास नर्मदा के किनारे माहिष्मती हैहयो की राजधानी थी। इसलिये यह परपरा ठीक जान पड़ती है। इनको चेदिकुलीय भी कहा गया है, क्योंकि इनका राज्य प्राचीन चेदिदेश पर भी था। नवीं शती के मध्य में डाहल (जबलपुर) के पास त्रिपुरी में कोकल्ल (प्रथम) ने इस वंश की स्थापना की। थोड़े ही समय में वह इतना प्रबल हो गया कि समकालीन राजा उसकी सहायता को आवश्यक समझने लगे। वैवाहिक संबंधों से भी उसकी शक्ति बहुत बढ गई। उसकी रानी नट्टदेवी चदेल राजा की कन्या थी। उसकी लड़की राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को ब्याही गई थी। उत्तर मे प्रतिहारो के घरेलू झगड़ो मे वह हस्तक्षेप करने लगा और द्वितीय भोज को उसके भाई महीपाल के विरुद्ध सहायता दी। वेंगी के पूर्वी चालुक्यो के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को सहायता पहुँचाई[2]। उसके सफल युद्धों और विजयों से आसपास के राज्य त्रस्त रहते थे। कोकल्ल के बाद लगभग १०७६ वि० में गांगेयदेव इस वंश में राजा हुआ। वह प्रसिद्ध विजेता था। महोबा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर में कीर (काँगड़ा) तक आक्रमण किया और प्रयाग तथा वाराणसी पर अधिकार कर लिया[3]। मुसलिम इतिहासकार अलबैहाकी के लेख से मालूम होता है कि जिस समय लाहौर के सूबेदार नियाल्तगीन ने बनारस पर आक्रमण किया उस समय यह नगर गग (गांगेयदेव) के अधीन था। अभिलेखों से विदित है कि गांगेयदेव

[1] एपि० इडि०, जि० २, पृ० १८०–१९५।
[2] बनारस ताम्रपट्ट, एपि० इडि०, जि० १, पृ० २५६, २६४।
[3] महोबा अभिलेख, वही, पृ० २१९, २२२, पंक्ति १४।

उसके अधिकार में नहीं आया। उदयपुर प्रशस्ति में उसके विजयों का विस्तृत वर्णन है। उसमें लिखा है कि कैलास (हिमालय) और मलय के बीच की संपूर्ण भूमि उसके साम्राज्य में थी[1]। उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और उसकी सेना काशी, पश्चिमी बिहार होते हुए तीरभुक्ति (तिरहुत) तक पहुँची। उत्तरभारत के तुरुष्कों (= अरबों) तथा कन्नौज के अधिपति और लाहौर के तुरुष्कों को भी उसने परास्त किया। चंदेलों, कच्छपघातों, सोलंकियों, चेदियों से उसके कई सफल युद्ध हुए, यद्यपि चालुक्यों तथा सोलंकियों के हाथ एक बार वह स्वयं भी परास्त हुआ। उसके विजयों का आतंक सारे भारत पर छाया हुआ था और वह सार्वभौम कहलाता था। इसी युद्धचक्र में वह स्वयं फँस गया और मारा गया। एक बार जब वह निश्चित अपनी राजधानी धारा में पड़ा हुआ था उसके सहज शत्रु अन्हिलवाड़ के भीम (प्रथम) तथा त्रिपुरी के लक्ष्मीकर्ण ने एक साथ ही उसपर आक्रमण किया। भोज पराजित हुआ और मारा गया। धारा ध्वस्त और श्रीहत हुई।

भोज स्वयं प्रकांड विद्वान् और विद्या तथा कला का आश्रयदाता था। वह कविराज पदवी से विभूषित था। उसने साहित्य, अलंकार, व्याकरण, कोष, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर ग्रंथ लिखे। इसमें सरस्वतीकंठाभरण, शृंगारतिलक, शब्दानुशासन, समरांगणसूत्रधार, व्यवहारसमुच्चय, युक्तिकल्पतरु, आयुर्वेदसर्वस्व, रामसृगांक आदि प्रसिद्ध हैं। धारानगरी में भोज ने भोजशाला नामक एक विशाल महाविद्यालय की स्थपना की थी जिसकी दीवालों पर संस्कृत के ग्रंथ अंकित थे। आज इसके स्थान पर मालवा के खिल्जी सुल्तानों द्वारा निर्मित मसजिद खड़ी है। भोज के राज्यकाल में संस्कृत का बहुत प्रचार हुआ। कथाओं के अनुसार जुलाहे आदि सामान्य व्यवसाय के लोग भी संस्कृत बोल सकते थे[2]। भोज के मारे जाने पर यह कहा गया—

'अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती।
पंडिता खंडिता सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥[3]'

भोज भवनों का बहुत बड़ा निर्माता भी था। उसने उज्जयिनी, धारा और भोजपुर को सुंदर भवनों और मंदिरों से सुशोभित किया। उसने भोजसागर नामक

1 एपि० इंडि०, जि० १, पृ० २३७-३८।
2 एक तंतुवाय ने भोज की राजसभा में कहा, 'कवयामि, वयामि, यामि' (मैं कविता करूँ, कपड़े बुनूँ या जाऊँ)।
3 'आज भोजराज के दिवंगत होने पर धारानगरी आधारहीन, सरस्वती अवलंबरहित और सभी पंडित खंडित हैं।'

बहुत बड़ी झील, सिंचाई, मृगया, तथा जलविहार के लिये बनवाई। पद्रहवीं शती में माडो के सुल्तान होसगशाह ने इसे तुड़वा दिया।

भोज के पश्चात् परमार वश शक्तिहीन तथा श्रीहत हो गया। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह ने कल्याणी के चालुक्य राजा प्रथम सोमेश्वर की सहायता से भीम तथा लक्ष्मीकर्ण की सेनाश्रो को मार भगाया। उसने ११११ वि० से १११७ वि० तक शासन किया। इसके बाद उदयादित्य[1] ने अपने वश की राज लक्ष्मी के उद्धार का प्रयत्न किया और युद्ध मे लक्ष्मीकर्ण को पराजित किया। परतु अदर से परमारा की शक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि वे खडे नहीं हो सकते थे। ११४५ वि० में उदयादित्य का देहात हो गया। इसके बाद इस वश में कई दुर्बल शासक हुए। १३६२ वि० में अलाउद्दीन के सेनापति ने मालवा जीत लिया और परमार वश का अत हो गया।

(६) त्रिपुरी का कलचुरी वंश—इस वश के अभिलेखो में कलचुरी राजाश्रा को हैहयवशी कहा गया है। प्राचीन काल मे इसी प्रदेश के आसपास नर्मदा के किनारे माहिष्मती हैहयों की राजधानी थी। इसलिये यह परपरा ठीक जान पड़ती है। इनको चेदिकुलीय भी कहा गया है, क्योंकि इनका राज्य प्राचीन चेदिदेश पर भी था। नवी शती के मध्य मे डाहल (जबलपुर) के पास त्रिपुरी में कोकल्ल (प्रथम) ने इस वश की स्थापना की। थोडे ही समय में वह इतना प्रबल हो गया कि समकालीन राजा उसकी सहायता को आवश्यक समझने लगे। वैवाहिक सबधो से भी उसकी शक्ति बहुत बढ गई। उसकी रानी नट्टदेवी चदेल राजा की कन्या थी। उसकी लड़की राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को ब्याही गई थी। उत्तर म प्रतिहारो के घरेलू झगड़ों में वह हस्तक्षेप करने लगा और द्वितीय भोज को उसके भाई महीपाल के विरुद्ध सहायता दी। वेंगी के पूर्वी चालुक्यो के विरुद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (द्वितीय) को सहायता पहुँचाई[2]। उसके सफल युद्धों और विजयों से आसपास के राज्य त्रस्त रहते थे। कोकल्ल के बाद लगभग १०७६ वि० में गागेयदेव इस वश मे राजा हुआ। वह प्रसिद्ध विजेता था। महोबा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर मे कीर (काँगड़ा) तक आक्रमण किया और प्रयाग तथा वाराणसी पर अधिकार कर लिया[3]। मुसलिम इतिहासकार अलबैहाकी के लेख से मालूम होता है कि जिस समय लाहौर के सूबेदार नियाल्तगीन ने बनारस पर आक्रमण किया उस समय यह नगर गग (गागेयदेव) के अधीन था। अभिलेखा से विदित है कि गागेयदेव

[1] एपि० इंडि०, जि० २, पृ० १८०–१९५।

[2] बनारस ताम्रपट्ट, एपि० इंडि०, जि० १, पृ० २५६, २६४।

[3] महोबा अभिलेख, वही, पृ० २१९, २२२, पंक्ति १४।

ने उत्कल (उड़ीसा) तथा कुंतल (कन्नड़) के राजाओं को पराजित किया और तीरभुक्ति (तिरहुत) पर अधिकार जमाया। इन विजयों के कारण उसे विक्रमादित्य की उपाधि मिली[१]। जीवन के अंतिम समय में उसे भोज परमार से पराजित होना पड़ा। उसका देहांत १०९८ वि० के आसपास हुआ।

गांगेय के बाद उसका पुत्र **कर्ण** अथवा **लक्ष्मीकर्ण** इस वंश का सर्व-शक्तिमान् राजा हुआ। ११२६ वि० तक उसने सफलता के साथ शासन किया। उसने हूण राजकुमारी आवल्लदेवी के साथ विवाह किया। उत्तरभारत में हिमालय तक उसकी सेनाएँ पहुँचती थीं। काशी उसके अधिकार में बनी रही जहाँ पर उसने कर्णमेरु शिव का मंदिर बनवाया[२]। काशी में आज भी कर्णघंटा उसके प्रताप का स्मरण दिलाता है। उत्तर में काँगड़ा से लेकर बंगाल तक उसकी धाक थी। दक्षिण में चोल और पांड्य तक उसका लोहा मानते थे। गहड़वालों के हाथ में पृथ्वी के जाने के पूर्व उसके शासकों में भोज के साथ लक्ष्मीकर्ण का भी उल्लेख है[3]। जीवन के अंतिम वर्षों में कर्ण को कई हारें खानी पड़ी थीं सोलंकी भीम (प्रथम), चालुक्य सोमेश्वर तथा कीर्तिवर्मन् चंदेल ने उसे अलग अलग पराजित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अपने पुत्र यशःकर्ण को राज्य सौंपकर संन्यास ले लिया। यद्यपि प्रारंभ में उसने चंपारण्य और दक्षिण के चालुक्यों पर सफल आक्रमण किया, किंतु इसके समय से कलचुरियों का ह्रास शुरू हो गया। आसपास के राजाओं ने क्रमशः इसे पराजित किया। उत्तरभारत में गहडवालों के उदय से कान्य-कुब्ज, प्रयाग, काशी सभी कलचुरियों के हाथ से निकल गए। ११७७ वि० के लगभग यशःकर्ण का पुत्र **गयाकर्ण** सिंहासन पर बैठा। इसके समय में सभी अधीन राज्य स्वतंत्र हो गए और थोड़े ही समय में कलचुरियों का प्रतापसूर्य अस्त हो गया।

(७) शाकंभरी और दिल्ली के चाहुमान (चौहान)—अर्बुद (आबू) के अग्निकुंड से उत्पन्न चार क्षत्रिय राजवंशों में चाहुमान वंश एक है। अग्निकुंड की व्याख्या कतिपय इतिहासकार बाहर से आई हुई जातियों की शुद्धि के रूप में करते हैं। परंतु वास्तव में अरब और तुर्क आक्रमण के पूर्व अपने देश और धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रिय राजवंशों के दृढ़ संकल्प की यह कहानी है। पृथ्वीराजविजय तथा हम्मीर महाकाव्य दोनों में

१ वही।
२ एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ४-६, श्लोक १३।
3 बसही-अभिलेख, इंडि० ऐंटि०, जि० १४, पृ० १०३, पंक्ति २।

चाहुमानों को सूर्यवंशी माना गया है। मध्ययुग में इस वंश के ऐतिहासिक पुरुष वासुदेव थे। दूसरे परवर्ती राजा गुवक (ल० १०३० वि०) प्रतिहारवंशी राजा द्वितीय नागभट्ट के समकालीन तथा सामंत थे।[1] बारहवीं शती से इस वंश का इतिहास स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसी समय अजयराज ने अजयमेरु (अजमेर) नामक नगर बसाकर उसको राजधानी बनाया। १२१० वि० के लगभग चतुर्थ विग्रहराज (बीसलदेव) सिंहासन पर बैठा। यह बड़ा विजेता और शक्तिशाली था। बिजौलिया-अभिलेख से ज्ञात होता है कि गहड़वालों से इसने दिल्ली छीनकर उत्तर में हिमालय तक अपने राज्य का विस्तार किया। तुर्कों की बढ़ती हुई शक्ति को इसने पश्चिमी पंजाब तक सीमित रखा[2]। विग्रहराज स्वयं विद्वान् तथा कवियों और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने अजमेर में एक विशाल विद्यालय की स्थापना की जिसको तोड़कर तुर्कों ने 'ढाई दिन का झोपड़ा' नामक मसजिद बनाई। विग्रहराज द्वारा रचित हरकेलिनाटक नामक ग्रंथ का एक भाग उपर्युक्त मसजिद की दीवार में लगे हुए एक पत्थर पर अंकित मिला है। उसके राजकवि द्वारा लिखित ललितविग्रहराज नाटक का एक भाग भी इसी प्रकार उपलब्ध हुआ है। १२२१ वि० के लगभग विग्रहराज का देहांत हुआ।

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा तृतीय पृथ्वीराज हुआ जिसका शासन-काल १२३६ से १२५० वि० तक था। पृथ्वीराज का वीरचरित 'पृथ्वीराजविजय' और 'पृथ्वीराजरासो' नामक महाकाव्य में वर्णित है। प्रथम ग्रंथ संस्कृत में है। इसका रचयिता जयानक था। इसमें अधिक अतिरंजित और असंभव वर्णन नहीं हैं। दूसरा ग्रंथ उसके राजकवि तथा मित्र चंद्र (चंद बरदाई) का लिखा हुआ है। यह अपभ्रंशमिश्रित हिंदी में है। लोकप्रिय और विकसनशील होने के कारण इसमें पीछे से काफी मिश्रण हुआ। इससे बहुत से विद्वान् इसकी ऐतिहासिकता में ही अविश्वास करते हैं। परंतु ऐसा करना 'रासो' के साथ अन्याय है। वर्णित सामग्री में से ऐतिहासिक, काव्योचित तथा कल्पित को अलग अलग किया जा सकता है। यह सच है कि इस ग्रंथ में अतिरंजन अधिक है और बड़ी सावधानी से इसके तथ्यों को ग्रहण करना चाहिए।

पृथ्वीराज के जीवन में वीर और शृंगार का प्रचुर मिश्रण था। वह बड़ा युद्धप्रिय और विजेता था। जेजाकभुक्ति (बुंदेलखंड) के चंदेलों से इसका बराबर संघर्ष चलता रहा। उसका समकालीन चंदेल राजा परमर्दि था। पृथ्वी-

[1] हर्ष प्रस्तर अभिलेख, एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ११६-३० ।
[2] इंडि० ऐंटि०, जि० १६, पृ० २१६; ज० ए० सो० बं०, जि० ५५, भा० १ (१८८६), पृ० ४२ ।

राज ने उसकी नई राजधानी महोबा पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद उसने अन्हिलवाड़ के सोलंकी राजा द्वितीय भीम को हराया। 'रासो' में पृथ्वीराज के अनेक युद्धों का वर्णन है जिनके कारणों में राज्यलोभ से अधिक नायिका-अपहरण का ही उल्लेख है। कान्यकुब्ज के गहडवालों से चाहुमानों का संघर्ष चतुर्थ विग्रहराज के समय में ही प्रारंभ हो गया था। यह बढ़ता गया। सबसे अंतिम और भयानक संघर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयचंद्र की कन्या संयुक्ता के स्वयंवर में पृथ्वीराज द्वारा उसके अपहरण से हुआ। दोनों राज्यों के पारस्परिक संघर्ष से भारत का बहुत बड़ा सैनिक ह्रास हुआ। इसी समय शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया और सिंधु पार कर पंजाब होता हुआ दिल्ली के निकट पहुँच गया। पृथ्वीराज विलास और मृगया में व्यस्त था। आक्रमण के समाचार से उसका शौर्य जगा। १२४८ वि० में तलावड़ी के मैदान में उसने शहाबुद्दीन का सामना किया। राजपूतों में शूरता की कमी नहीं थी। उन्होंने बड़े वेग से अफगान सेना पर प्रहार किया और उनकी हरावल को तितर-बितर कर दिया। शहाबुद्दीन हारकर भागा और सिंधु के उस पार विश्राम लिया[१]। पृथ्वीराज की भूल यह थी कि उसने शहाबुद्दीन का पूरा पीछा नहीं किया और मुसलिम सत्ता को पश्चिमी पंजाब में सुरक्षित छोड़ दिया। शहाबुद्दीन अपनी धुन का पक्का था। दूनी तैयारी के साथ १२५० वि० में उसने पुनः भारत पर आक्रमण किया। इधर पृथ्वीराज विलास और युद्ध में अपनी शक्ति नष्ट कर रहा था। विदेशी शत्रु से युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर उसने उत्तरभारत के राजाओं को निमंत्रण दिया और परंपरागत सैनिक संघ बनाया[२]। राजपूतों की विशाल सेना लेकर वह फिर तलावड़ी के रणक्षेत्र में पहुँचा। राजपूतों ने पुनः अफगानों के छक्के अपने रणकौशल से छुड़ाया और ऐसा लगा कि अफगान फिर हारकर भाग जायँगे। परंतु शहाबुद्दीन की रणनीति ने उनको सँभाल लिया। राजपूत अपने संभावित विजयोन्माद में अपनी पंक्तियाँ तोड़कर अफगानों का पीछा करने लगे। शहाबुद्दीन ने अपनी व्यूहबद्ध सेना को उलटकर आक्रमण करने की आज्ञा दी। बिखरी हुई राजपूत सेना उसके सामने ठहर नहीं पाई और ध्वस्त होने लगी। संध्या होते होते रणभूमि राजपूतों की लाशों से भर गई और वे पराजित हुए। पृथ्वीराज हाथी से उतरकर घोड़े पर भागा किंतु सरस्वती नदी के किनारे पकड़ा गया और मारा गया। पृथ्वीराजरासो के अनुसार वह बंदी होकर गजनी पहुँचाया गया जहाँ शब्दभेदी बाण से शहाबुद्दीन को मारकर अपने मित्र चंद्र

१ ब्रिग्स : फिरिश्ता, भा० १, पृ० १७२।
२ वही, पृ० १७५; पृथ्वीराजरासो।

के द्वारा स्वेच्छा से मृत हुआ अथवा मारा गया[1]। जो भी हो, चाहुमानो का पराजय हुआ और अजमेर-दिल्ली पर मुसलिम सत्ता का आधिपत्य स्थापित हो गया। शहाबुद्दीन ने कुछ दिनों के लिये पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को अजमेर की गद्दी पर बैठाया। पृथ्वीराज के भाई हरिराज को मुसलिम आधिपत्य स्वीकार नहीं हुआ। उसने गोविंदराज को रणथंभौर भगाकर अजमेर अपने अधिकार में कर लिया। इसपर शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने अजमेर पर पुनः आक्रमण करके हरिराज को हराया और अजमेर को स्थायी रूप से मुसलिम सत्ता के अधीन किया। चाहुमानों की हार का परिणाम यह हुआ कि उत्तरभारत में मुसलिम सत्ता को रोकने का प्रबल बाँध—अजमेर से हिमालय तक विस्तृत—टूट गया और उसको आगे बढ़ने में सरलता हो गई। पृथ्वीराज के साथ ही हिंदुओं का अंतिम साम्राज्य लुप्त हो गया।

(८) **जेजाकभुक्ति का चंदेल वंश**—इस वंश के अभिलेखों और परंपरा से यह मालूम होता है कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन चंद्रवंश से हुई थी। प्राचीन चेदि राज्य के अंतर्गत ही जेजाकभुक्ति स्थित था, अतः चंद्रवंश से उत्पत्ति की परंपरा बहुत संभव जान पड़ती है। त्रिपुरी के चेदिवंश और वाराणसी के गहड़वालों से भी इस वंश का निकट-तम संबंध था। वी० ए० स्मिथ का यह मत कि चंदेलों की उत्पत्ति गोंड और भरों से हुई थी नितात असंगत है[2]। नवीं शती के मध्य में इस वंश की स्थापना नन्नुक के द्वारा बुंदेलखंड में हुई। इसकी राजधानी खर्जूरवाह (खजुराहो) थी। उसके पौत्र जयशक्ति (जेजा) और विजयशक्ति बड़े विजेता थे। जयशक्ति (जेजा) के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। पहले चंदेल कान्यकुब्ज के प्रतिहारों के सामंत नृपति थे। हर्षदेव नामक चंदेल राजा के समय में यह वंश शक्तिशाली और स्वतंत्र होने लगा। हर्षदेव ने द्वितीय भोज और महीपाल दो प्रतिहार राजकुमारों के गृहकलह में भाग लिया और महीपाल को राजा बनाया। यशोवर्मन् के समय में चंदेल राज्य का अधिक विस्तार हुआ। उसने कलचुरियों, मालवों और कौशलों को हराकर उनके कतिपय प्रांतों को छीन लिया। उत्तर में अपने अधिपति प्रतिहारों पर भी उसने अपना बलप्रयोग किया और उनसे कालंजर का दुर्ग छीन लिया[3]। देवपाल प्रतिहार पर उसका

[1] वही, पृ० १७७-७८; ताजुलमासिर (इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, भा० २, पृ० २१४-१६)।

[2] इंडि० ऐंटि०, जि० ३७ (१९०८), पृ० १३६-३७।

[3] एपि० इंडि०, जि० १, पृ० १२२, श्लोक २३, पृ० १२३, श्लोक ३१।

पूरा आतंक था। उससे विष्णुप्रतिमा छीनकर उसने खजुराहो के एक मंदिर में प्रतिष्ठित कराया[1]।

यशोवर्मन् का पुत्र धंग चंदेलवंश का सबसे शक्तिशाली और प्रतापी राजा था। उसने १००७ वि० से लेकर १०५६ वि० तक राज्य किया। वह बड़ा विजेता और नीतिज्ञ था। अपने राज्यकाल के प्रारंभ में वह प्रतिहारों को अपना अधिपति मानता रहा, यद्यपि वास्तव में वह स्वयं उनसे अधिक शक्तिशाली और स्वतंत्र था। आगे चलकर उसने अपने पूर्व अधिपति प्रतिहारों को परास्त किया और उत्तर में यमुना तट तक अपना राज्य फैला लिया। इसके पश्चात् उसने चंदेलों के पूर्ण प्रभुत्व की घोषणा की[2]। १०५५ वि० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि काशी भी धंग के अधिकार में आ गई थी, जहाँ उसने एक ब्राह्मण को भूमिदान किया था।[3] सुबुक्तगीन के विरुद्ध शाही राजा जयपाल ने जो सैनिक संघ बनाया था उसमें धंग की सेना भी संमिलित हुई थी। धंग के बाद गंड राजा हुआ। उसने भी तुर्कों के विरुद्ध शाही नृपति आनंदपाल की सहायता की परंतु भारतीय सेनाओं के साथ उसकी सेना भी परास्त हुई। महमूद गजनी की सेना उत्तर में कान्यकुब्ज तक आ गई। इसके बाद गंड की सारी शक्ति तुर्कों के साथ संघर्ष में लगी। कान्यकुब्ज के दुर्बल राजा राज्यपाल ने महमूद के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। गंड ने राज्यपाल को दंड देने के लिये अपने पुत्र विद्याधर को भेजा। राज्यपाल मारा गया। इस घटना से महमूद बहुत ही क्रुद्ध हुआ। तुर्क सेनाएँ फिर उत्तरभारत में लौटीं। कान्यकुब्ज से चंदेल सेना को परास्त होकर लौटना पड़ा[4]। इसके बाद महमूद ने चंदेलों के सामंत राज्य गोपाद्रि (ग्वालियर) पर आक्रमण किया और उसकी सेना कालंजर पर भी चढ़ आई। लंबे घेरे के बाद भी तुर्क कालंजर को जीत न सके। परंतु गंड ने प्रजा पर होते हुए अत्याचारों को देखकर अंत में आत्मसमर्पण कर दिया। महमूद के साथ संधि हुई और वह वापस चला गया।

चंदेल शक्ति का फिर उत्थान हुआ। कीर्तिवर्मन् ने खोई हुई कुललक्ष्मी की पुनः स्थापना की। बीच में कलचुरी राजाओं ने चंदेलों को दबा रखा था। कीर्तिवर्मन् ने पासा पलट दिया। उसने कलचुरी नृपति लक्ष्मीकर्ण को परास्त किया और अपने प्रदेशों को वापस लिया। वह विद्या और कला का बड़ा ही प्रेमी था। उसकी राजसभा में कृष्ण मिश्र नामक विद्वान् रहते थे जिन्होंने

१ वही, पृ० १३४, श्लोक ४३।
२ वही, पृ० १६७, २०३, श्लोक ३।
3 इंडि० ऐंटि०, जि० १६, पृ० २०२-२०४।
४ इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जि० २, पृ० ४६४।

'प्रबंधचंद्रोदय' नामक नाटक की रचना की। कीर्तिवर्मन् के बाद लगभग ११८६ वि० में मदनवर्मन् राजा हुआ। उसकी सेनाएँ गुजरात तक पहुँची और उसने सोलंकी राजा जयसिंह को हराया। मऊ (झाँसी) के प्रशस्तिलेख से मालूम होता है कि उसने चेदिराज (गयाकर्ण) को परास्त किया, मालवा के परमार राजा को उखाड़ फेंका और काशी के राजा (विजयचंद्र गहड़वाल) को मैत्री करने के लिये बाध्य किया[1]। मदनवर्मन् के पश्चात् परमर्दि (परमाल) ने १२२२ वि० से लेकर १२६० वि० तक शासन किया। इस समय तक चंदेलों की राजधानी महोबा जा चुकी थी। चंदेलों और चाहुमानों में घोर संघर्ष था। तृतीय पृथ्वीराज चौहान ने परमर्दि को १२३६-४० के लगभग परास्त किया[2] परंतु चंदेलों ने फिर अपनी शक्ति को सँभाल लिया। चंदेलों और गहड़वालों में मित्रता थी। ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शक्तियों ने शहाबुद्दीन गोरी के विरुद्ध चाहुमानों की सहायता नहीं की। दिल्ली और कान्यकुब्ज के पराभव के बाद चंदेलों की स्थिति संकटापन्न हो गई। १२६० वि० में शहाबुद्दीन के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ने कालंजर पर आक्रमण किया। परमर्दि वीरता के साथ लड़ा परंतु अंत में परास्त हुआ। तुर्कों ने कालंजर और महोबा पर अधिकार कर लिया। वीरगाथा की अनुश्रुतियों के अनुसार बनाफर आल्हा और ऊदल परमर्दि के सामंत और सहायक थे। ये कुपाण बनसरों के वंशज थे और ओछे कुल के माने जाते थे। मध्ययुगीन युद्धों और नायिका-अपहरण में इन्होंने स्वभावसुलभ भाग लिया। चंदेलों की राजसभा में रहनेवाले कवि जगनिक ने इन्हीं को नायक मानकर 'आल्हा-काव्य' की रचना की जो संपूर्ण उत्तरभारत में बहुत लोकप्रिय है। इसके अनंतर सोलहवीं शती वि० के मध्य तक स्थानीय राज्य के रूप में कई स्थानों पर चंदेल राज्य करते रहे।

मध्ययुगीन भारत में स्थापत्य तथा मूर्तिकला के विकास में चंदेलों की बहुत बड़ी देन है। अनेक मंदिरों और सरोवरों का उन्होंने निर्माण कराया। खजुराहो में आज भी अनेक भव्य मंदिर उनके कीर्तिस्तंभ के रूप में खड़े हैं। ये नागर शैली के मंदिरों के सुंदर नमूने हैं[3]। महोबा का मदनसरोवर मदनवर्मन के द्वारा निर्मित हुआ था। कालंजर का अभेद्य दुर्ग अपने ढंग का अनोखा दुर्ग-स्थापत्य है।

[1] एपि० इंडि०, जि० १, पृ० १९८-२०४।
[2] मदनपुर अभिलेख, आ० स० इंडि०, १९०३-१९०४, पृ० ५५।
[3] इंडि० एंटि०, जि० ३७ (१९०८), पृ० १३२।

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक विचार और संस्थाएँ

१. राजनीतिशास्त्र और उसका अन्य विद्याओं से संबंध

मध्ययुग के प्रसिद्ध ग्रंथ शुक्रनीति में राजनीतिशास्त्र का बहुत बड़ा महत्व स्वीकार किया गया है : 'नीतिशास्त्र सबकी जीविका की व्यवस्था करनेवाला; लोक की स्थिति और मर्यादा को स्थिर रखनेवाला; धर्म, अर्थ और काम का मूल और मोक्ष देनेवाला है। अतः राजा को सदा नीतिशास्त्र का अभ्यास करना चाहिए, जिसके जानने से राजा आदि (मंत्री, राजपुरुष आदि) शत्रुओं को जीतने में समर्थ और संसार का अनुरंजन करनेवाले होते हैं'।[1] शुक्र ने यह भी कहा है कि "नीति के बिना संपूर्ण संसार के व्यवहार की स्थिति उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार शरीरधारियों के देह की स्थिति भोजन के बिना असंभव है[2]"। अन्य शास्त्रों के साथ नीतिशास्त्र के संबंध पर भी विचार किया गया है। शुक्र ने आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति चार सनातन विद्याओं को माना है और राजा को उनका सदा अभ्यास करने का उपदेश किया है।[3] सोमदेव सूरि ने भी अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृत[4] में कौटिल्य का अनुसरण करते हुए चार विद्याओं का उल्लेख किया है—(१) आन्वीक्षकी, (२) त्रयी, (३) वार्ता और (४) दंडनीति। आन्वीक्षकी अथवा दर्शन सभी शास्त्रों और व्यवहारों में सम्यक् दृष्टि देनेवाला माना गया है। त्रयी सभी वर्णों और आश्रमों को उनकी मर्यादा के भीतर रखती और अनियम तथा अपराध का संवरण करती है। वार्ता (=आधुनिक अर्थशास्त्र) संसारयात्रा का आधार है। दंडनीति अथवा राजनीति ऐसी सामाजिक व्यवस्था और स्थिति उत्पन्न करती है जिसमें जीवन के पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम तथा

१ सर्वोपजीवकं लोक-स्थिति-कृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थ-काममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥
अतः सदानीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रुजिल्लोकरंजकाः॥ १. ५, ६।

२ सर्वलोक-व्यवहार-स्थितिर्नीत्या विना नहि।
यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धिदेहिनाम॥ १. ११।

३ आन्वीक्षकी त्रयीवार्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।
विद्या चतस्त्रएवैता अभ्येसेन्नृपतिः सदा॥ १. ५१।

४ नीतिवाक्य०, २. ७, ८ तथा ६।

मोक्ष—की प्राप्ति हो सके। सभी विद्याएँ परस्पर पूरक और आवश्यक हैं। शुक्रनीति में कौटिल्य द्वारा उद्धृत उशना (शुक्र) के मत की पुनरावृत्ति की गई है कि और शास्त्र तो अपने अनुयायियों के बुद्धिकौशल मात्र हैं, व्यवहार में उनका उपयोग नहीं, अर्थात् दंडनीति ही सर्वोपरि शास्त्र है[1]। इन वचनों से यह स्पष्ट है कि अभी देश में नीतिशास्त्र (दंडनीति) का अध्ययन होता था परंतु इनके देखने से यह भी प्रकट होता है कि ये सारी उक्तियाँ परंपरागत हैं, इनमें नवीनता और मौलिकता का अभाव है।

२. राज्य की उत्पत्ति

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विचार न कर राजा की उत्पत्ति के संबंध में विचार किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि राज्य में राजा का सर्वोपरि महत्व स्वीकार कर लिया गया था। परवर्ती पुराणों में महाभारत में वर्णित वेन और पृथु की कथाएँ प्रायः दुहराई गई हैं। मत्स्य और बृहद्धर्मपुराण में जो वर्णन है उसके अनुसार वेन और पृथु की राजपद पर नियुक्ति मात्स्यन्याय के निवारण के लिये हुई थी। पृथु की उत्पत्ति में दैवी विधान का ही प्राधान्य है। गरुडपुराण के अनुसार पृथु में विष्णु का मानसिक तेज था, अग्निपुराण के अनुसार विष्णु ने उन्हें विभिन्न वर्ग के जीवों पर शासन के लिये नियुक्त किया, बृहद्धर्म के अनुसार पृथु विष्णु के अवतार थे, विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार पृथु मानव शरीर में स्वयं विष्णु थे। इस प्रकार राजा अपनी शक्ति और अधिकार केवल विष्णु द्वारा अपनी सृष्टि से ही नहीं, अपितु उनके स्वतः व्यक्तित्व से प्राप्त करता है। वास्तव में राजा विष्णु का प्रतिनिधि है। इन वर्णनों से यही प्रकट होता है कि इस समय के विश्वास के अनुसार राज्य की उत्पत्ति दैवी थी। राज्य सामाजिक 'समय' अथवा अनुबंध है, इस सिद्धांत की चर्चा कहीं नहीं पाई जाती।

३. राज्य के अंग और उसकी कल्पना

शुक्रनीति में राज्य के अंगों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—(१) स्वामी, (२) अमात्य, (३) सुहृत्, (४) कोश, (५) राष्ट्र, (६) दुर्ग और (७) बल राज्य के अंग हैं। राज्य सप्तांग (सात अंगोंवाला) कहलाता

[1] तत्तन्मतानुगै सर्वै. विधृतानि जनै सदा।
बुद्धिकौशलमेतद्धि तै. किं स्याद्व्यवहारिणाम्॥ १. १०।

[2] गरुड० १. ६. ५-८; अग्नि० १७ ११-१८; १६. २२-२६; म० पु० १० १३-१६; बृहद्धर्म० ३. १३. ४५६; विष्णुधर्मोत्तर० १. १०८ १०६।

है। उसमें राजा (स्वामी) मूर्द्धन्य कहा गया है।[१] सोमदेव सूरि के नीतिवाक्यामृत[२] में भी इन्हीं अंगों को राज्य का उपादान स्वीकृत किया गया है। एक बात यहाँ ध्यान देने की है। राज्य और इन अंगों में अंगी और अंग का संबंध माना गया है और राज्य की उपमा एक सेंद्रिय पिंड से की गई है। मंत्री राज्य का नेत्र, मित्र, कान, कोश मुख, सेना मन, दुर्ग हाथ और राष्ट्र पाद कहा गया है।[3] यहाँ राज्य की कल्पना एक परस्परावलंबी जीवित संस्था के रूप में की गई है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि राजा यहाँ मूर्द्धन्य माना गया है। इस युग में एकतांत्रिक राज्य की महत्ता के कारण ऐसा हुआ है। किंतु राज्य की यह कल्पना और राजा के महत्व पर बल दोनों ही नए नहीं है। अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, कामंदकनीतिसार आदि प्राचीन ग्रंथों में भी सप्तांग राज्य की कल्पना पाई जाती है। एकतंत्रवादी कौटिल्य ने भी प्रभु (राजा) का महत्व दर्शाते हुए कहा है कि राजा संक्षेप में संपूर्ण प्रकृति (राज्य के घटक) है[४]। इन सभी अंगों को समृद्धि देनेवाला (भूतिप्रद)[५] कहा गया है किंतु राजा की विशेष महत्ता गाई गई है—'राजा इस संसार की वृद्धि का हेतु है। वृद्धों से माननीय है। नेत्रों को इस प्रकार आनंद देता है जिस प्रकार चंद्रमा समुद्र को। सम्यक् नेतृत्व करनेवाला यदि राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार नष्ट हो जाय जैसे समुद्र में कर्णधार (नाविक) के बिना नाव। पालक राजा के बिना प्रजा अपने स्वधर्म का पालन नहीं करती...[६]। राजा अपने सत् और असत् कर्मों द्वारा काल का कारण है। अतः वह अपने क्रोध और उद्यत दंड द्वारा प्रजा को अपने स्वधर्म में स्थित करें।[७]

४. राजा

राज्य की उत्पत्ति के साथ राजा की उत्पत्ति और उसकी दैवी संपत्ति की चर्चा हो चुकी है। इस काल के भाष्यकार विश्वरूप, मेधातिथि आदि ने इस बात की

१ स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश-राष्ट्र-दुर्ग-बलानिच।
सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा स्मृतः नृपः॥ १. ६१।

२ नीतिवाक्य०, अ० १७, २३।

3 दृगमात्या सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशा बलं मनः।
हस्तौ पादौ दुर्ग-राष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानि हि॥ शुक्र० १. ६२।

४ राजा प्रकृति इति संक्षेपः।

५ शुक्र० १. ६३।

६ ,, १. ६४-६६।

७ कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः।
स्वक्रौर्योत दंडाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः॥ १

भी मीमांसा की है कि कौन सा व्यक्ति राजा होने का अधिकारी हो सकता है। परंपरागत और रूढ़ विचार यह था कि केवल क्षत्रिय ही राजा होने के योग्य है। परंतु स्थिति ने दूसरी दिशा में सोचने के लिये विवश किया। दूसरी शती वि० पू० से लेकर सातवीं शती वि० पू० तक ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णों ने समय समय पर राज्य किया। मनु और याज्ञवल्क्य का उल्लेख करते हुए विश्वरूप[1] ने कहा है कि राजपद के वे सभी अधिकारी हैं जो राज्य स्थापित करने में समर्थ हैं और जिनका राज्याभिषेक आदि संस्कार हुआ है। मेधातिथि[2] का भी प्रायः यही विचार है। वे राजपद के अंतर्गत किसी भी जनपदेश्वर का समावेश करते हैं, चाहे वह क्षत्रियेतर क्यों न हो। इसके विपरीत वे राज्याभिषेक से रहित क्षत्रिय को राजपद से बहिष्कृत समझते हैं[3]। उन्होंने अपने सिद्धांत का समर्थन इस प्रकार किया है कि यद्यपि सामान्यतः क्षत्रिय को ही राजा होना चाहिए, किंतु उसके अभाव में किसी वर्ण का पुरुष राजा हो सकता है, क्योंकि इसके बिना प्रजा नष्ट हो जायगी[4]। उनका यह भी कहना है कि मनु के अनुसार क्षत्रिय अस्त्रशस्त्र को धारण कर अपनी जीविका चलाता है; दूसरे वर्ण के व्यक्ति भी क्षत्रियोचित व्यापार को करके राजपद प्राप्त कर सकते हैं[5]। ऐसे भी स्मृतिवाक्य मिलते हैं कि जो कोई भी प्रजा का पालन करता है वह नृप (राज)-पद का अधिकारी है, क्योंकि प्रजा की रक्षा और उसके कल्याण के लिये ही राजा के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है[6]। इसकी पुष्टि में मेधातिथि ने यह तर्क दिया है कि मनु ने राजा के लिये 'पार्थिव' जैसे सामान्य शब्द का प्रयोग किया है जो किसी भी भूभाग पर शासन करनेवाले व्यक्ति के लिये उपयुक्त है[7]। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि मध्ययुग के प्रारंभ में हर्ष के साम्राज्य के विघटन के पश्चात् देश में अराजकता फैल जाने से [illegible] एक बहुत बड़ी

[1] [illegible], पृ० [illegible]।
[2] मनु०, ३. ११९; ४. ८४, ११०; ५. ९३; ७. १-३ पर भाष्य।
[3] वही।
[4] वही, ७. २ पर भाष्य।
[5] वही, ८. १ पर भाष्य।
[6] य. करिष्यत्स्वीनोदना [illegible]।
कर्मनिष्ठा च विज्ञा [illegible]॥
मनु० ८. १ पर मेधातिथि द्वारा उद्धृत।
[7] मनु० ८. १ पर भाष्य।
दक्षिण में [illegible]। [illegible]
स्थिति का सिद्धांत प्रचलित है [illegible]।
अभिलेखों में यह भी [illegible]
मूर्धन्य भाषाओं में [illegible] ([illegible])।

समस्या हो गई थी ; अतः जो व्यक्ति जनता का संरक्षण कर सकता था वह सर्वमान्य हो जाता था ; वर्ण इसमें बाधक नहीं था। परंतु एक वार पुनः राजपूतों का प्राधान्य स्थापित हो जाने पर राजपद के लिये क्षत्रियत्व की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा, यद्यपि इसके अपवाद पूरे युग में पाए जाते रहे।

सिद्धांततः राजा निरंकुश था और राज्य के ऊपर उसका एकतंत्र अधिकार था। परंतु भारतीय राजाओं पर परंपरागत कई प्रतिबंध थे और उनमें अत्याचारियों की संख्या बहुत कम थी। इस संबंध में अपने ग्रंथ जमीयतुल-हिकायत में उफी द्वारा वर्णित दीर्घजीवन-औषधि का वर्णन बहुत मनोरंजक है। वह लिखता है कि हिंदू राजा इस बात में विश्वास करते थे कि अत्याचारी राजा का जीवन अपनी प्रजा के शाप से क्षीण हो जाता है। यह बात वह मुसलिम शासकों की तुलना में लिखता है[१]। हिंदू राजाओं के सामने इस युग में भी मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श राजा राम का उदाहरण रहता था[२] और मध्ययुग में कश्मीर को छोड़कर और किसी राज्य में अत्याचारी शासक का उल्लेख नहीं मिलता। इसके कई कारण थे। एक तो प्रजारंजन और अहिंसा की परंपरा इस देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। दूसरे विधि (कानून) बनाने का अधिकार हिंदू राजा के हाथ में नहीं था। समाज द्वारा विकसित और ऋषियों तथा आचार्यों द्वारा शास्त्र का रूप पाए नियमों का अनुसरण उसे करना पड़ता था। वास्तव में वह धर्मप्रवर्तक नहीं, अपितु धर्मसंस्थापक था। इसी प्रकार कर आदि का विधान भी स्मृतियों में विहित था; सामान्यतः राजा कोई नया कर नहीं लगा सकता था। इस परिस्थिति में यदि कोई राजा अत्याचारी हुआ भी तो उसका अत्याचार व्यक्तिगत होता था और प्रभाव सीमित। जनता पर शासन का भार कम था, क्योंकि मध्ययुगीन राजाओं को बहुसंख्यक स्थायी सेना और कर्मचारी, लेखक आदि की फौज नहीं रखनी पड़ती थी, जिनके लिये येनकेनप्रकारेण राजा को देश का शोषण करना पड़ता है।

५. राजा और प्रजा का संबंध

मध्ययुग के प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि के वक्तव्यों से इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। मनुस्मृति पर भाष्य करते हुए सिद्धांततः उन्होंने राजा के अपरिमित शासनाधिकार को स्वीकार किया है और उसके क्रोध से बचने के लिये चेतावनी दी

१ इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जिल्द २, पृ० १७४।

२ शीलं दयां च सौख्यं च अथवा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
उत्तररामचरित, अंक १ में राजा राम का उद्गार।

है[१]। किंतु इस अधिकार पर बड़ी सावधानी से प्रतिबंध लगाने की भी चेष्टा की है। उनका कहना है कि राजा का शासन और प्रजा की विधेयता का संबंध केवल कार्यव्यवस्था से है जो धर्मशास्त्र और आचार के अनुकूल होनी चाहिए[२]। प्रजा द्वारा वर्णाश्रम धर्म के पालन में या किसी प्रकार के धर्माचरण में राजा का कोई अधिकार नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि केवल दंडनीय व्यक्तियों पर ही राजा का अनुशासन था। प्रजा से कर ग्रहण करने के कारण राजा इस बात के लिये अनुबद्ध था कि वह प्रजा की रक्षा करेगा। यह उसका नित्यधर्म था। किंतु समाज के ऐसे अंग भी उसके द्वारा रक्षणीय थे जो उसे कर नहीं देते थे, क्योंकि राजा के सामान्य धर्म और राज्यारोहण के समय की प्रतिज्ञा के अनुसार प्रजापालन और रक्षण उसके लिये अनिवार्य था।

राजा को कर देना और उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का धर्म था। परंतु प्राचीन काल से ही आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र द्वारा अपनी रक्षा करने का अधिकार प्रजा को प्राप्त था[3]। मेधातिथि[४] ने विस्तार से इसकी व्याख्या की है। एक अर्थ में तो वे स्मृतियों से भी आगे हैं। धर्मसूत्रों और स्मृतियों के अनुसार तो निश्चित परिस्थितियों—विप्लव आदि—में ही प्रजा को शस्त्रधारण का अधिकार है। किंतु मेधातिथि के मत में प्रजा को बराबर शस्त्रधारण का अधिकार है, क्योंकि समाज में ऐसे आततायी होते ही हैं जो व्यक्तियों को अपनी रक्षा के लिये तैयार होने का अवसर नहीं देते और राज्य के द्वारा रक्षा के साधन सभी व्यक्तियों तक पहुँच नहीं सकते। केवल अपनी ही रक्षा के लिये नहीं, अपितु परिवार और अपनी संपत्ति की रक्षा के लिये भी प्रजा को शस्त्रग्रहण का अधिकार था। किन्हीं स्मृतियों के मत से दूसरों की रक्षा में भी शस्त्र का उपयोग किया जा सकता था। जहाँ तक नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न है, दूसरे प्रसिद्ध भाष्यकार विश्वरूप[५] महाभारत के मत का समर्थन करते हैं कि अत्याचारी राजा के वध का अधिकार प्रजा को प्राप्त है। जब राजा कोई बड़ा अपराध करे तो उसके ऊपर बहुत बड़ा भूखंड फेंककर उसे मार डालना चाहिए, क्योंकि ऐसे राजा के होने से सेना, कोष आदि राज्य की संपत्ति नष्ट हो जाती है। बारहवीं शती के लेखकों में ऐसे विचार

[१] मनु ७ १२ पर भाष्य 'त राजानं यो द्वेष्टि, प्रातिकूल्येन वर्तते तस्मिन्, सत्वसंशयं नश्यति।'

[२] यत सर्वतेजोमयो राजा तस्माद्धेतोरिष्टेषु वल्लभेषु, मन्त्रिपुरोहितादिषु, कार्यगत्या धर्मं कार्यव्यवस्था शास्त्राचाराविरुद्धा व्यवस्थेनिश्चित्य स्थापयेत न विचालयेत। सा तादृशी राज्ञोऽनुज्ञा नातिक्रमणीया। मनु० ७. १३ पर भाष्य।

[3] म० भा० १२. ९२. १; १२, ९३. ९, १३ ६१. ३२ ३३।

[४] मनु० ८ ३४८–३४९ पर भाष्य।

[५] याज्ञ० पर बालक्रीडा नामक भाष्य।

समस्या हो गई थी ; अतः जो व्यक्ति जनता का संरक्षण कर सकता था वह सर्वमान्य हो जाता था ; वर्ण इसमें बाधक नहीं था। परंतु एक बार पुनः राजपूतों का प्राधान्य स्थापित हो जाने पर राजपद के लिये क्षत्रियत्व की अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा, यद्यपि इसके अपवाद पूरे युग में पाए जाते रहे।

सिद्धांततः राजा निरंकुश था और राज्य के ऊपर उसका एकतंत्र अधिकार था। परंतु भारतीय राजाओं पर परंपरागत कई प्रतिबंध थे और उनमें अत्याचारियों की संख्या बहुत कम थी। इस संबंध में अपने ग्रंथ जमीयतुल-हिकायत में उफी द्वारा वर्णित दीर्घजीवन-औषधि का वर्णन बहुत मनोरंजक है। वह लिखता है कि हिंदू राजा इस बात में विश्वास करते थे कि अत्याचारी राजा का जीवन अपनी प्रजा के शाप से क्षीण हो जाता है। यह बात वह मुसलिम शासकों की तुलना में लिखता है[1]। हिंदू राजाओं के सामने इस युग में भी मर्यादापुरुषोत्तम आदर्श राजा राम का उदाहरण रहता था[2] और मध्ययुग में कश्मीर को छोड़कर और किसी राज्य में अत्याचारी शासक का उल्लेख नहीं मिलता। इसके कई कारण थे। एक तो प्रजारंजन और अहिंसा की परंपरा इस देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। दूसरे विधि (कानून) बनाने का अधिकार हिंदू राजा के हाथ में नहीं था। समाज द्वारा विकसित और ऋषियों तथा आचार्यों द्वारा शास्त्र का रूप पाए नियमों का अनुसरण उसे करना पड़ता था। वास्तव में वह धर्मप्रवर्तक नहीं, अपितु धर्मसंस्थापक था। इसी प्रकार कर आदि का विधान भी स्मृतियों में विहित था; सामान्यतः राजा कोई नया कर नहीं लगा सकता था। इस परिस्थिति में यदि कोई राजा अत्याचारी हुआ भी तो उसका अत्याचार व्यक्तिगत होता था और प्रभाव सीमित। जनता पर शासन का भार कम था, क्योंकि मध्ययुगीन राजाओं को बहुसंख्यक स्थायी सेना और कर्मचारी, लेखक आदि की फौज नहीं रखनी पड़ती थी, जिनके लिये येनकेनप्रकारेण राजा को देश का शोषण करना पड़ता है।

५. राजा और प्रजा का संबंध

मध्ययुग के प्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि के वक्तव्यों से इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। मनुस्मृति पर भाष्य करते हुए सिद्धांततः उन्होंने राजा के अपरिमित शासनाधिकार को स्वीकार किया है और उसके क्रोध से बचने के लिये चेतावनी दी

१ इलियट : हिस्ट्री आफ् इंडिया, जिल्द २, पृ० १७४।

२ शीलं दयां च सौख्यं च अथवा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
उत्तररामचरित, अंक १ में राजा राम का उद्गार।